कृष्णभावनामृत की प्राप्ति

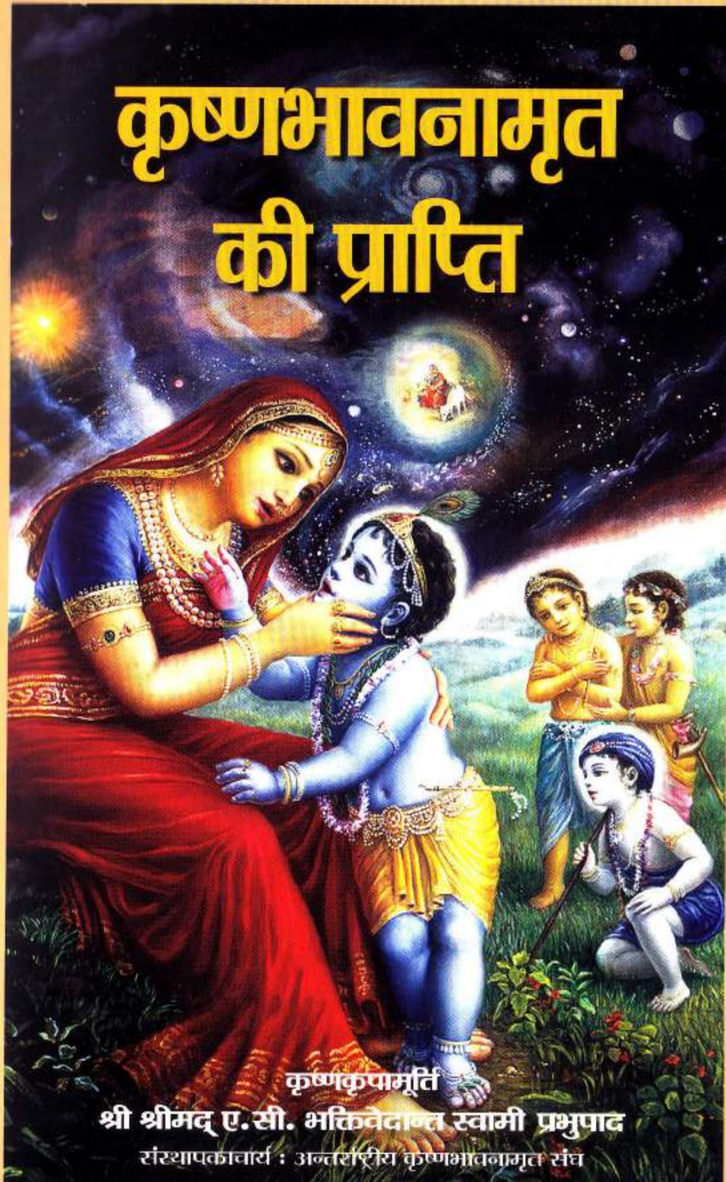

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

ई-मेल : admin@indiabbt.com
वेब : www.indiabbt.com

Elevation to Kṛṣṇa Consciousness (Hindi)

1st printing : 10,000 copies
2nd to 14th Printing : 1,70,000 copies
15th printing, June 2012 : 50,000 copies

© १९८३ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुंबई द्वारा भारत में मुद्रित।
ZBY2

विषय-सूची

१. मानव योनि अथवा पशु योनि का चयन.......... १
२. सुख के लिए कठिन संघर्ष................ १४
३. शांतिमय समाज की ओर................ ३४
४. कृष्ण को यथारूप जानना................ ४८
५. कृष्ण की शक्तियों का ज्ञान................ ६६
६. कृष्णभावनामृत को अपनाना................ ७६
लेखक परिचय १०३

१

मानव योनि अथवा पशु योनि का चयन

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

"अज्ञान रूपी घोर अंधकार से अंधे हुए मेरे नेत्रों को जिन्होंने ज्ञान के अंजन रूपी शलाका से खोल दिया है, उन गुरुदेव को मैं सादर नमस्कार करता हूँ।"

उक्त श्लोक से गुरु को नमस्कार करना एक प्रथा है, जो अपने शिष्यों को दिव्य ज्ञान का प्रकाश देते हैं। वैदिक पद्धति में शोधकार्य की आवश्यकता नहीं है। सांसारिक विद्वत्ता में हमें किसी शोधकार्य के द्वारा अपने शैक्षणिक ज्ञान का प्रमाण देना पड़ता है, किन्तु वैदिक पद्धति इससे भिन्न है। वैदिक पद्धति में शोधकार्य पहले ही कर लिया गया है; वह ज्ञान परिपूर्ण है और उसे गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा गुरु अपने शिष्य को केवल हस्तान्तरित करते हैं। शोधकार्य का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जिन साधनों या उपकरणों से शोधकार्य किया जाता है, वे कुंठित तथा अपूर्ण हैं।

अपने वर्तमान भौतिक अस्तित्व में हम प्रकृति के अनेक नियमों से बँधे हैं। सभी बद्धजीव अपनी इन्द्रियों की अपूर्णता के कारण चार दोषों के अधीन हैं। एक दोष तो यह है कि बद्धजीव

निश्चय ही त्रुटियां (गलतियां) करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो त्रुटियां न करता हो। उदाहरण के लिए, भारत में महात्मा गांधी को एक महान् व्यक्तित्व माना जाता था। किन्तु उन्होंने भी त्रुटियां कीं। जिस सभा में वे मारे गए, उसमें जाने से ५ मिनट पूर्व उनके विश्वस्त साथियों ने उन्हें वहाँ जाने से मना किया था, किन्तु वे हठ पकड़ गए। बद्ध दशा में त्रुटियाँ करना बड़ा स्वाभाविक है। इसलिए अंग्रेजी में यह प्रसिद्ध कहावत चल पड़ी है, "त्रुटियाँ करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।"

बद्धजीव की दूसरी अपूर्णता यह है कि वह निश्चित रूप से भ्रमित हो जाता है। भ्रमित होने का तात्पर्य है, उस पदार्थ की सत्ता को मान लेना, जो है ही नहीं अर्थात् किसी छायाचित्र को वास्तविक मान लेना। हममें से प्रत्येक की धारणा है कि हम ये शरीर हैं, किन्तु वस्तुतः हम शरीर नहीं हैं। शरीर को स्वयं मान लेना ही माया है। तीसरी अपूर्णता यह है कि बद्धजीव में ठगने की प्रवृत्ति होती है। हम किसी दुकानदार को प्राय: यह कहते हुए सुनते हैं, "चूँकि आप मेरे मित्र हैं, मैं आपसे कोई लाभ नहीं लूंगा।" किन्तु वस्तुतः हम जानते हैं कि वह कम से कम ५० प्रतिशत मुनाफा ले रहा है। ठगने की इस प्रवृत्ति के कितने ही उदाहरण हैं। कितने ही ऐसे अध्यापकों के उदाहरण भी हैं, जो वास्तव में तो कुछ जानते नहीं हैं, किन्तु अपने सिद्धान्तों को "संभवत:" अथवा "ऐसा हो सकता है," जैसे वाक्यों से प्रतिपादित करते हैं, जबकि वास्तव में वे अपने छात्रों को केवल ठग रहे होते हैं। चौथी अपूर्णता यह है कि जीव की इन्द्रियाँ पूर्ण नहीं हैं। हमारी दृष्टि इतनी सीमित है कि न तो हम बहुत दूर देख

सकते हैं, न ही बहुत पास। हमारे नेत्र कुछ विशेष दशाओं में ही देख पाते हैं। इसलिए यह समझा जाता है कि हमारी दृष्टि सीमित है। इसी प्रकार हमारी अन्य सब इन्द्रियाँ भी सीमित हैं। असीमित को इन अपूर्ण और सीमित इन्द्रियों से नहीं समझा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि वैदिक पद्धति हमें परम सत्य को जानने के लिए अपनी वर्तमान इन्द्रियों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती, क्योंकि ये कई तरह से बद्ध हैं। यदि हमें ज्ञान प्राप्त करना है, तो वह निश्चय ही एक उच्चतर स्रोत से प्राप्त होना चाहिए जो उक्त चार अपूर्णताओं से आबद्ध नहीं हो। वह स्रोत कृष्ण हैं। वे *भगवद्गीता* के सर्वोच्च अधिकारी (प्रमाण) हैं और वे अनेक ऋषि-मुनियों के द्वारा पूर्ण ज्ञान के अधिकारी के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

जो लोग वैदिक साहित्य के गंभीर अध्येता हैं, वे प्रमाण को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, *भगवद्गीता* विद्वानों का प्रस्तुतीकरण नहीं है, जो बहुत शोध कार्य के बाद सामने आया हो। यह तो पूर्ण ज्ञान है, जो भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को सिखाया था, और गीता से हमें यह पता चलता है कि पूर्व युगों में श्रीकृष्ण ने यह ज्ञान सूर्यदेव विवस्वान को दिया था और अनादिकाल से गुरु-शिष्य परम्परा से यह ज्ञान विवस्वान से लेकर आगामी पीढ़ियों को दिया जाता रहा।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"श्रीभगवान् ने कहा : मैंने इस अविनाशी योग का उपदेश सूर्यदेव

विवस्वान को दिया था। विवस्वान ने इसकी शिक्षा मानव जाति के पिता मनु को तथा मनु ने फिर इक्ष्वाकु को दी थी।" (*भगवद्गीता* ४.१)

यदि हम गीता का अध्ययन आधुनिक शिक्षा से अर्जित ज्ञान से या अपने मस्तिष्क की कल्पनाओं के अनुसार करने लगें, तो निश्चित ही हम त्रुटि करेंगे। *भगवद्गीता* को इस प्रकार से समझ पाना संभव नहीं है। इसके लिए सावधानीपूर्वक अर्जुन के पदचिह्नों का अनुसरण करना आवश्यक है। पूर्वयुगों में मनगढंत व्याख्याओं और कपोल-कल्पनाओं के कारण गीता का वास्तविक तात्पर्य लुप्त हो गया। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देकर इन्हें पुनः स्थापित किया—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"हे परंतप (अर्जुन), यह परम विज्ञान इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा प्राप्त हुआ और राजर्षियों ने इसी विधि से उसे जाना, परंतु काल-क्रम से वह परम्परा खंडित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्राय हो गया। परमेश्वर से हमारे सम्बन्ध का वही प्राचीन विज्ञान आज मैने तुमसे कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो; अतएव तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।" (*भगवद्गीता* ४.२-३)

अतः स्पष्ट है कि जो कोई व्यक्ति अर्जुन का अनुगमन करते

हुए भक्तिभाव से श्रीकृष्ण की ओर अग्रसर होता है, वही *भगवद्गीता* और अन्य समस्त वैदिक साहित्यों का तात्पर्य समझ सकता है।

वेद चार हैं—सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। उपनिषद् १०८ हैं, जैसे ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, तैत्तरीय उपनिषद् इत्यादि। वैदिक साहित्य में वेदान्तसूत्र, श्रीमद्भागवतम् और *भगवद्गीता* भी सम्मिलित हैं। यह साहित्य किसी विशेष मानव समुदाय के लिए नहीं अपितु समस्त मानव समाज के लिए है। संपूर्ण मानव समाज इस मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए वैदिक ज्ञान का लाभ उठा सकता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, मानव जीवन इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है, अपितु इसका लक्ष्य श्रीभगवान्, ब्रह्मांड और स्वयं को जानना है।

वैदिक साहित्य से हम समझ सकते हैं कि यह भौतिक जगत भगवान् की सम्पूर्ण सृष्टि की एक आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। श्रीभगवान् की सृष्टि के बृहत्तर अंश का दर्शन वैकुंठ के आध्यात्मिक जगत में होता है। इस भौतिक प्रकृति के परे एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक प्रकृति है, जैसा कि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—

मेरी भिन्न भौतिक शक्तियों के आठ रूप हैं। हे महाबाहु अर्जुन, इस अपरा (जड़) प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो वे सब जीव हैं जो भौतिक अपरा प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं तथा ब्रह्मांड को बनाये रख रहे हैं।'' (*भगवद्गीता* ७.४-५)

इस सृष्टि में अनेक भौतिक ब्रह्मांड गुच्छ के रूप में विद्यमान हैं और ये सब मिलकर इस भौतिक सृष्टि का निर्माण करते हैं। इन सब अनगिनत भौतिक ब्रह्मांडों के गुच्छों के परे दिव्य धाम है, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में भी है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

''मेरा वह परम धाम न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि के द्वारा प्रकाशित होता है। जो मेरे उस परम धाम को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस भौतिक जगत में नहीं लौटता।'' (*भगवद्गीता* १५.६)

वह परा प्रकृति, जो इस भौतिक प्रकृति के परे है, शाश्वत है। इसके प्रारंभ होने का कोई इतिहास नहीं है; न इसका आदि है न अन्त।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

''इस व्यक्त-अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति भी है। यह सर्वोपरि तथा अविनाशी है। इस जगत के नष्ट हो जाने पर भी यह उसी तरह बनी हुई रहती है। उस परम धाम को अव्यक्त और अक्षर कहते हैं और वही परम गंतव्य है। वहाँ जाने वाला उधर से फिर कभी वापस नहीं लौटता, वही मेरा परम धाम है।'' (*भगवद्गीता* ८.२०-२१)

वैदिक धर्म या वर्णाश्रम धर्म को भी सनातन कहा जाता है, क्योंकि कोई इसके आरंभ का पता नहीं लगा सकता। ईसाई धर्म का इतिहास २००० वर्ष का और मुस्लिम धर्म का इतिहास १३०० वर्ष का है, किन्तु यदि हम वैदिक धर्म के आरंभ की खोज करने का प्रयत्न करें, तो हमें इसके आरंभ का पता नहीं लग सकेगा। वर्णाश्रम धर्म मानव प्राणी का सनातन धर्म माना जाता है।

हम प्रायः कहते हैं कि भगवान् ने इस भौतिक जगत का निर्माण किया और इसका अर्थ यह है कि श्रीभगवान् इस जगत से पूर्व विद्यमान थे। चूँकि भगवान् इस भौतिक जगत के प्राकट्य से पूर्व विद्यमान थे, अतः वे इस सृष्टि पर आश्रित नहीं हैं। यदि भगवान् इस भौतिक जगत के नियमों से आबद्ध होते, तो वे इस जगत का निर्माण कैसे कर पाते? भगवान् अपनी सृष्टि से अभिन्न हैं और साथ ही साथ इससे पृथक् पूर्ण रूप में विद्यमान भी हैं, यह *भगवद्गीता* में कहा गया है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"अपने दिव्य रूप में मैं इस संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त हूँ। सभी चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ और इतना होने पर भी यह सृष्टि मुझ में स्थित नहीं है। मेरे इस योगिक ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त भूतप्राणियों का पालन करता हूँ और सर्वव्यापक हूँ, तथापि मैं ही सृष्टि का एकमात्र स्रोत हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.४-५)

वास्तव में हम सब आत्मा हैं और हमारा लक्ष्य अध्यात्मिक आकाश में श्रीभगवान् के संग रहना है, जहाँ असंख्य दिव्य ग्रह हैं और असंख्य दिव्य जीव हैं। किन्तु जो लोग उस अध्यात्मिक जगत में रहने के योग्य नहीं हैं, वे इस भौतिक जगत में भेज दिए जाते हैं। यही विचार मिल्टन ने *पैराडाइज लॉस्ट* में व्यक्त किया है। यद्यपि हम आत्मा हैं, किन्तु हमने स्वेच्छा से इस भौतिक शरीर को स्वीकार किया है, और इसे स्वीकार करने के फलस्वरूप इस भौतिक प्रकृति के त्रिविध दुखों को भी स्वीकार कर लिया है। इसे हमने कब और कैसे स्वीकार किया, ठीक-ठीक नहीं पता लगाया जा सकता। जीवात्मा ने सर्वप्रथम कब यह भौतिक शरीर स्वीकार करना प्रारम्भ किया, इसका इतिहास कोई नहीं पता लगा सकता।

वर्तमान युग में डारविन द्वारा स्थापित जैविक पदार्थों के विकास के सिद्धान्त की उच्च शिक्षा-संस्थाओं में बड़ी मान्यता है। किन्तु पद्मपुराण तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में जीवात्माओं के एक शरीर से दूसरे शरीर में आध्यात्मिक विकास करने की चर्चा मिलती है। इस पुराण से हमें जानकारी मिलती है कि जीवों की ८४,००,००० योनियाँ हैं, जिनमें से ९,००,००० जीवधारी जल में

रहनेवाले हैं। केवल वृक्षों और वनस्पतियों में ही २०,००,००० योनियाँ हैं। वर्तमान काल में प्रत्येक व्यक्ति डारविन के सिद्धान्त पर बल दे रहा है, किन्तु वैदिक साहित्य में विभिन्न योनियों के विषय में अपरिमित ज्ञान भरा पड़ा है। डारविन का विचार है कि योनियाँ जीवन के निम्न कोटि के रूपों से विकसित हो रही हैं, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। आत्मा निम्न कोटि के रूपों से उच्च कोटि के रूपों में विकास कर सकता है, किन्तु सृष्टि के आरंभ में सभी योनियों की रचना श्रीकृष्ण ने की थी, जिस का *भगवद्गीता* में उल्लेख है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

"हे कुन्तीपुत्र, कल्प का अंत होने पर संपूर्ण भौतिक सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है और नये कल्प के आरंभ में अपनी शक्ति द्वारा मैं फिर उसकी सृष्टि करता हूँ। संपूर्ण सृष्टि मेरे अधीन है। मेरी इच्छा से ही यह बारंबार प्रकट होती है और मेरी ही इच्छा से अंत में इसका नाश हो जाता है।" (*भगवद्गीता* ९.७-८)

ये सभी जीव शरीर तथा मन से सम्बन्धित दुखों समेत त्रिविध दुखों के अधीन हैं। पशु यह समझ नहीं सकते कि वे दुख भोग रहे हैं, किन्तु मनुष्य यह समझ सकते हैं। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह दुख भोग रहा है, वह पशु-चेतना में है। जिन पशुओं का वध होने वाला होता है, वे यदि एक बाड़ के पीछे

खड़े हो, तो भी वे नहीं समझते कि अगले ही क्षण उनका वध होने वाला है। किन्तु मनुष्य जीवन में हमें इस बात का ज्ञान होना ही चाहिए कि हम जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग का दुख भोग रहे हैं। हमें इसकी जिज्ञासा होनी चाहिए कि इन दुखों से कैसे बचा जा सकता है। हम तभी से दुख भोग रहे हैं, जब एक शिशु के रूप में नौ मास के लिए माता के गर्भ में दृढ़ता से जकड़े हुए पड़े थे। जन्म के बाद दुख का अंत नहीं होता; यद्यपि माँ अपने बच्चे की बहुत देखभाल करती है, फिर भी बच्चा रोता है। ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए होता है कि बच्चे को कोई कष्ट होता है। या तो उसे कोई कीड़ा काट रहा होता है या उसके पेट में दर्द होता है या कोई अन्य व्याधि सता रही होती है। कुछ भी हो, दुख चलता रहता है। बच्चे को तब भी कष्ट होता है, जब उसे पाठशाला जाने के लिए बाध्य किया जाता है और वह जाना नहीं चाहता। बच्चा पढ़ना नहीं चाहता, किन्तु फिर भी अध्यापक उसे पढ़ने-लिखने का काम देते हैं। यदि हम सावधानी से अपने जीवन का विश्लेषण करें, तो हमें पता लगेगा कि वह दुखों से भरा हुआ है। साधारणतया बद्धजीव अधिक बुद्धिमान नहीं होते और इसलिए वे कभी यह पूछने की चेष्टा किए बिना कि वे क्यों दुखी हैं, दुख भोगते चले जाते हैं। किन्तु हमें जानना चाहिए कि संसार में दुख तो है ही और यदि इसके निवारण का कोई उपाय है, तो हमें उसका लाभ उठाना चाहिए।

महर्षि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को इस प्रकार उपदेश दिया था, "मेरे प्रिय पुत्रो, इस मानव जीवन में तुमने ये सुंदर शरीर प्राप्त किये हैं। अब तुम्हें जानना चाहिए कि इनका लक्ष्य शूकर-कूकर

के शरीरों की भाँति इन्द्रियतृप्ति के निमित्त नहीं है, अपितु आत्म-साक्षात्कार के लिए है।" निश्चित ही ऋषभदेव का कहने का मतलब यह है कि इन्द्रिय-तृप्ति का जीवन शूकरों जैसे मलभक्षी प्राणियों के लिए है और चूँकि अब हम लोग उच्चतर जीवन-स्तर पर हैं, हमें निम्नतर जीवन-स्तर के प्राणियों का अनुकरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। अभी हाल में ही न्यूयॉर्क नगर के सेंट्रल पार्क में भ्रमण करते हुए हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि युवा अमेरिकन लड़कों और लड़कियों की एक टोली सुअरों की उपासना में लगी हुई थी। जब हम "हरे कृष्ण" का कीर्तन कर रहे थे, तब ये युवाजन "सुअर! सुअर! सुअर!" की रट लगा रहे थे। वे वास्तव में सेंट्रल पार्क में सुअरों के साथ चलते हुए और उनको नमस्कार करते हुए उनकी पूजा कर रहे थे। वे वास्तव में एक सुअर को अध्यक्ष बनाना चाहते थे और उन सुअरों से अपने नेतृत्व की अपेक्षा रखते थे। यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि सीटिल के एक "बी-इन" (एक होटल) में एक निदर्शन हुआ, जिसमें लड़के-लड़कियाँ निर्वस्त्र होकर कींचड़ में धँसे और सुअरों के साथ खेलने लगे। इस प्रकार वे लोग सुअरों के साथ तादात्म्य कर के उनकी उपासना कर रहे थे। यह सब उस देश में हो रहा है, जहाँ के युवाजनों के पास सुंदर शरीर हैं जहाँ प्रचुर धन है और जहाँ अन्य राष्ट्रों के युवाजनों की तुलना में उनको अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। इन सब सुविधाओं को प्राप्त करने का फल यह हुआ है कि ये लोग सुअरों की पूजा करने लगे हैं। इस प्रकार की शूकर-पूजा की पूर्वकल्पना बहुत समय पहले कर ली गई थी और श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख भी है, जिस की रचना कम

से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। तात्पर्य यह है कि जीवन में एक सुंदर स्थिति का उपयोग एक सुंदर लक्ष्य के लिए होना चाहिए, न कि निकृष्ट कोटि की उपासनाओं के लिए।

वैदिक इतिहासों से हमें पता चलता है कि भारत में अनेक श्रेष्ठ सम्राट् और राजर्षि हुए हैं, जिन्होंने कठोर तप और योग-साधनाएँ की थी। महाराज ध्रुव, महाराज अंबरीष और महाराज युधिष्ठिर सभी महान् राजा थे, बड़े वैभवशाली थे, किन्तु साथ ही महान् ऋषि भी थे। इस प्रकार उन्होंने उन लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया था, जिन्हें आर्थिक विकास की सारी सुविधाओं और सुखमय जीवन के साथ साथ सुंदर मानव शरीर प्राप्त करने का सुअवसर मिला है। इस सुअवसर का उपयोग इससे भी बेहतर जीवन प्राप्त करने के लिए होना चाहिए और यह तपस्या के अभ्यास द्वारा कार्यान्वित हो सकता है। इस समय हम इन भौतिक शरीरों में स्थित हैं, किन्तु यदि हम कृष्णभावना की प्रक्रिया अपना लें, तो हमारी चेतना विशुद्ध हो जाएगी। जन्म से अमरीकी और यूरोपीय होकर भी, जो तरुण अनुयायी स्वेच्छा से कृष्णभावनामृत का अभ्यास कर रहे हैं, वे इस अभ्यास से अत्यंत प्रसन्न हैं। कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया कष्टसाध्य नहीं अपितु आनन्ददायक है। अब वे अनुभव कर रहे हैं कि पवित्रीकृत जीवन से पशु जीवन और मानव जीवन का अंतर स्पष्ट होता है।

यदि हम अपने जीवन को केवल कृष्णभावनामृत के आधारभूत नियमों का पालन करते हुए पवित्र बनाएँ, तो हम शनैः शनैः अपनी आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने के स्तर तक उठ जाएंगे, जो संपूर्णतया पवित्र है। कृष्णभावनामृत के आधारभूत

नियम चार हैं—१. अवैध यौन सम्बन्धों का परित्याग २. मांसाहार का त्याग ३. मादक द्रव्यों का त्याग और ४. द्यूत (जुआ) का त्याग। महर्षि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा था कि एक बार अपना जीवन शुद्ध बना लेने पर उन्हें असीम आनन्द की प्राप्ति होगी। हम सभी शांति और आनन्द पाने की इच्छा करते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत में हमें जितनी भी शांति और आनन्द दिखाई देते हैं, वे सीमित हैं। यदि हम केवल अपने जीवन को पवित्र बना लें और आध्यात्मिक जीवन प्राप्त कर लें, तो हमें असीम शांति और आनन्द का अनुभव होगा।

आध्यात्मिक जगत शुष्क या कल्पनामात्र नहीं है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वहाँ विविधता है। वैकुंठ लोकों में आध्यात्मिक आनन्द के एक अंश का अनुभव नृत्य के आनन्द का अनुभव है। वहाँ भी तरुण युवक-युवतियाँ हैं। वस्तुतः वहाँ वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु और जन्म लेने की पीड़ा जैसी कोई वस्तु नहीं है। यदि हम असीम आनन्द, ज्ञान और सनातन जीवन के भागीदार होना चाहते हैं, जो सब आध्यात्मिक जगत में हमारी धरोहर रुप में हैं, तो हमें यह जीवन इन्द्रियतृप्ति के लिए कठिन परिश्रम करते हुए और सुअरों की उपासना करते हुए नष्ट नहीं करना चाहिए। हमें एक ऐसी जीवन-पद्धति को स्वीकारना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत के विकास के लिए अर्पित हो और तब हमें असीम सुख और असीम आनन्द प्राप्त होगा। यही कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सार तत्त्व है।

२

सुख के लिए कठिन संघर्ष

प्रामाणिक शास्त्रों में भगवान् को *सच्चिदानन्द विग्रह* कहा गया है। *सत्* अर्थात् सनातन, *चित्* अर्थात् पूर्ण ज्ञान स्वरूप और *आनन्द* अर्थात् पूर्णतया आह्लादमय। विग्रह का अर्थ है उनका व्यक्तित्व, अर्थात् श्रीभगवान् एक व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार भगवान् जो एक एवं अद्वितीय हैं, वे पूर्ण ज्ञानमय हैं, पूर्ण आनन्दमय हैं और अपने व्यक्तित्व की पूर्ण पहचान रखते हैं। कोई भी न उनके समान है ओर न उनसे बड़ा है। यह भगवान् का संक्षिप्त वर्णन है।

जीव उन्हीं श्रीभगवान् के सूक्ष्म रूप हैं और इसलिए अपने कार्यकलापों से वे सनातन अस्तित्व, पूर्ण ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। मानव समाज में ये इच्छाएँ सुस्पष्ट हैं। उच्चतर लोकों (स्वर्गलोक, जनलोक, तपोलोक, महर्लोक, ब्रह्मलोक इत्यादि) में जीवात्माएँ अधिक लंबी आयु, अधिक ज्ञान एवं सामान्यत: अधिक आनन्दमय जीवन का भोग करते हैं। किन्तु इस भौतिक ब्रह्मांड का उच्चतम ग्रह, जहाँ आयु की अवधि और आनन्दोपभोग का स्तर पृथ्वीलोक की अपेक्षा हजारों गुना अधिक है, वहाँ भी वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु होते हैं। अत: वहाँ भी आनन्दोपभोग का स्तर श्रीभगवान् के साहचर्य में प्राप्त होनेवाले शाश्वत आनन्द की अपेक्षा नगण्य है। विभिन्न सम्बन्धों

(शांत, दास्य, सख्य आदि) से भगवान् के प्रति की गई प्रेमाभक्ति के आनन्द की तुलना में निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनुभूति का आनन्द भी ऐसे ही नगण्य है, जैसे समुद्र की तुलना में एक बूँद।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीव सर्वोच्च स्तर के आनन्दोपभोग की कामना करता है, किन्तु फिर भी यहाँ सब दुखी हैं। सभी उच्चतर लोकों में आयु की लंबी अवधि, सुख-सुविधाओं एवं आनन्दोपभोग का उच्चतर स्तर होते हुए भी यह दुख विद्यमान है। इसका कारण भौतिक प्रकृति के नियम हैं। हम जीवन की अवधि और उसके स्तर को उच्चतम स्थिति पर ले जा सकते हैं, किन्तु फिर भी भौतिक प्रकृति के नियमों के कारण हम दुखी रहेंगे। इसका कारण यह है कि सुख का जो स्तर हमारे स्वरूप के अनुकूल है, वह भौतिक क्रियाकलापों से प्राप्त होने वाले सुख से भिन्न है। जीव *सच्चिदानंदविग्रह* भगवान् की परा (आध्यात्मिक) शक्ति का एक सूक्ष्म कण है। अत: जीव में भी आनन्द के प्रति आवश्यक प्रवृत्ति है, जो आध्यात्मिक गुणता का होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश यह जीव भौतिक प्रकृति के विजातीय वातावरण से आनन्द पाने की निष्फल चेष्टा कर रहा है।

एक मछली, जिसे जल से बाहर निकाल लिया गया है, भूमि पर किसी भी प्रकार की सुविधाजनक व्यवस्था से सुखी नहीं रह सकती। उसे तो जल मिलना ही चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्म *सच्चिदानंद* जीवात्मा इस भौतिक जगत में अपने भ्रमित मस्तिष्क से परिकल्पित किसी भी योजना से वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। इसलिए उसे एक भिन्न प्रकार का ही आनन्द मिलना चाहिए, जो तत्त्वत: आध्यात्मिक हो। हमारी आकांक्षा उस

आध्यात्मिक आनन्द के उपभोग की ओर लक्षित होनी चाहिए, न कि इस क्षणिक सुख की ओर। कुछ दार्शनिकों का मत है कि आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति लौकिक सुख और लौकिक जीवन का निषेध करने से होती है। श्रीपाद शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित भौतिक कर्मों का सैद्धांतिक निषेध मानव जाति के किसी नगण्य समुदाय के लिए लाभकारी हो सकता है, किन्तु मनुष्य मात्र के लिए आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ और निश्चित मार्ग, भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रतिपादित किया गया भक्तिमार्ग ही है। यह भक्ति भौतिक प्रकृति का स्वरूप ही बदल देने की क्षमता रखती है।

भौतिक सुख के लिए लालायित होना काम कहलाता है और कामपूर्ण कर्मों का परिणाम अंततः निराशा है। सर्प का शरीर बड़ा शीतल होता है, किन्तु यदि कोई मनुष्य इस शीतलता का आनन्द लेने की इच्छा से किसी विषैले सर्प को माला की भाँति गले में डाल ले, तो वह उसके विषमय दंश से निश्चित ही मारा जाएगा। भौतिक इन्द्रियों की तुलना सर्पों से की जाती है; भौतिक सुखों का भोग निश्चय ही हमारी आध्यात्मिक पहचान को नष्ट कर देगा। अतः एक बुद्धिमान व्यक्ति की आकांक्षा आनन्द के वास्तविक स्रोत की खोज के लिए होनी चाहिए।

इस स्रोत को प्राप्त करने के लिए हमें थोड़ा बहुत यह जानने की आवश्यकता है कि वह आनन्द वस्तुतः है क्या? एक मूर्ख मनुष्य की कहानी प्रसिद्ध है, जिसे गन्ने से कोई अनुभव नहीं था। जब उसने अपने मित्र से गन्ने के लक्षणों के बारे में पूछा, तो उसे अधूरा उत्तर मिला कि गन्ना बाँस की लाठी जैसा होता है। फलतः

उसने बाँस के डंडों से रस निकालने का प्रयत्न आरंभ कर दिया और जैसा कि स्वाभाविक था, वह अपने प्रयत्न में विफल रहा। यही स्थिति भ्रमित जीवात्मा की है, जो शाश्वत आनन्द की खोज इस भौतिक जगत में करता है जबकि यह जगत न केवल दुखमय है अपितु अस्थायी और चपल भी है। *भगवद्गीता* में इस भौतिक जगत को दुखमय बताया गया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन, इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सभी स्थान दुखमय हैं, जहाँ जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। किन्तु जो मेरे परम धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।" (*भगवद्गीता* ८.१६)

आनन्द की आकांक्षा स्वाभाविक और उत्तम है, किन्तु जड़ पदार्थों से तथाकथित वैज्ञानिक साधनों के द्वारा इसे प्राप्त करना एक भ्रमपूर्ण प्रयत्न है, जिसका परिणाम केवल निराशा है। जो लोग मूढ़ हैं, वे इसे नहीं समझ सकते। पुरुष भौतिक सुख के लिए काम द्वारा कैसे आकृष्ट हो जाता है, इसका उल्लेख भी *भगवद्गीता* में हुआ है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

आसुरी व्यक्ति सोचता हैं गा। इतना अभी मेरा है और भविष्य में यह और भी अधिकाधिक बढ़ जाएगा।" (*भगवद्गीता* १६.१३)

हमारी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए इस नास्तिक अनीश्वरवादी

सभ्यता का बड़ा जंजाल फैलाया गया है और अब हम सब इस रिक्त खोल के निर्वाह के लिए धन के पीछे पागल हुए जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति धन के पीछे इसलिए दौड़ रहा है, क्योंकि धन इन्द्रियतृप्ति की साधनों के विनिमय का माध्यम है। स्पष्ट है कि स्वर्णमृग के पीछे भाग दौड़ के इस वातावरण में शांति की आशा करना एक अव्यावहारिक स्वप्न है। जब तक मनुष्य में इन्द्रियतृप्ति की थोड़ी सी भी झलक या इच्छा रहेगी, तब तक शांति भी दूर-दूर ही रहेगी। इसका कारण यह है कि स्वभाव से हम सब श्रीभगवान् के नित्य दास हैं। अतः हम अपने निजी हित के लिए किसी वस्तु से सुख नहीं ले सकते। अतएव हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की दिव्य सेवा के लिए करना सीखें और सभी वस्तुओं का उपयोग भगवान् के लिए ही करना सीखें। केवल इसी प्रक्रिया से अत्यंत मनोवांछित शांति प्राप्त हो सकती है। शरीर का कोई एक अंग स्वयं स्वतंत्र रूप से सुखी नहीं रह सकता। वह सम्पूर्ण शरीर की सेवा करके ही सुख प्राप्त कर सकता है। भगवान् पूर्ण हैं और हम उस पूर्ण के अंश हैं, किन्तु हम सब अपने निजी हित के कार्यकलापों में अत्यधिक व्यस्त हैं। कोई भी व्यक्ति श्रीभगवान् की सेवा के लिए तैयार नहीं है। हमारी भौतिक जीवन में बद्धता का और उससे उत्पन्न हुए दुख का यही मूल कारण है।

अपने गगनचुंबी भवन के कार्यालय में बैठे सर्वोच्च अधिकारी से लेकर सड़क के मजदूर तक, सब वैध या अवैध रूप से धन एकत्र करने के विचार से ही कार्य करते हैं। वस्तुतः यह सब अवैध है, क्योंकि मनुष्य का केवल अपने निजी स्वार्थ के लिए

कार्य करना अन्यायपूर्ण और विनाशकारी, दोनों है। यहाँ तक कि केवल अपने ही स्वार्थ के लिए आध्यात्मिक अनुभूति का अनुशीलन भी अनुचित और हानिकारक है। भाव यह है कि समस्त कर्म श्रीकृष्ण की तुष्टि और उनकी सेवा के लिए उन्मुख होने चाहिए।

जो लोग श्रीभगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में संलग्न नहीं हैं, गलत सोचते हैं कि वे दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक धन एकत्र करते जा रहे हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान्॥

"आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग इच्छा-रूपी हजारों बंधनों में बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करते हैं।" (*भगवद्गीता* १६.१२)

परिणामस्वरूप विश्व में यद्यपि धन का अभाव नहीं है, किन्तु शांति का अभाव अवश्य है। धनोपार्जन के लिए इतनी अधिक जन-शक्ति को दिग्भ्रमित किया जा रहा है कि सामान्य जनता की रुपये कमाने की क्षमता अधिकाधिक बढ़ गई है, किन्तु इसका दीर्घकालीन परिणाम यह हुआ है कि इस अनियंत्रित और अन्यायपूर्ण मुद्रास्फीति से पूरे विश्व की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ गई है और उसने ऐसे सस्ते धनोपार्जन के फल को ही नष्ट करने के लिए हमें बड़े-बड़े भारी लागत के शस्त्रास्त्र बनाने के लिए उकसाया है। धनोपार्जन करने वाले बड़े देशों के नेता लोग वास्तव में शांति का अनुभव नहीं कर रहे हैं, अपितु आणविक

अस्त्रों के द्वारा आसन्न विनाश से अपनी सुरक्षा की योजनाएँ बना रहे हैं। वस्तुत: इन भयंकर अस्त्रों के परीक्षण के रूप में विपुल धन-राशि समुद्र में फेंकी जा रही है। ऐसे परीक्षण न केवल भारी आर्थिक लागत पर किये जा रहे हैं, अपितु अनेक प्राणियों के जीवनों को संकट में डाल कर भी हो रहे हैं। इस प्रकार विश्व के राष्ट्र कर्मफल के नियमों से बँधते जा रहे हैं। जब लोग इन्द्रियतृप्ति की भावना से प्रेरित होते हैं, तो जो भी धन कमाया जाता है, वह नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसका व्यय मानव जाति के संहार के लिए होता है। इस प्रकार मनुष्य के भगवान् से विमुख होने के कारण प्रकृति के नियमानुसार मानवजाति की शक्ति नष्ट हो जाती है, क्योंकि वस्तुत: श्रीभगवान् ही समस्त शक्तियों के स्वामी हैं।

धन-सम्पदा की पूजा होती है और उसे भाग्य की देवी अथवा माँ ''लक्ष्मी'' कहा जाता है। लक्ष्मीजी का कर्तव्य भगवान् श्रीनारायण की सेवा करना है, जो समस्त नरों या जीवधारियों के स्रोत हैं। नरों का कर्तव्य भी भाग्य की देवी लक्ष्मीजी के निर्देशन में श्रीनारायण की सेवा करना है। कोई भी मनुष्य भाग्यलक्ष्मी का उपभोग श्रीनारायण की सेवा के बिना नहीं कर सकता। अत: जो व्यक्ति लक्ष्मीजी का गलत उपयोग करना चाहेगा, उसे प्रकृति के नियमों द्वारा दंडित होना पड़ेगा। ये नियम निश्चित करेंगे कि धन-सम्पदा स्वयं शांति और संपन्नता लाने के बजाए विनाश का कारण बन जाएगी।

अवैध ढंग से एकत्र किया हुआ धन अब गरीब नागरिकों से राज्य-करों की विभिन्न प्रणालियों के माध्यम से छीना जा रहा है। यह धन संभावित गृह युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय युद्धों के निमित्त एक

कोष के लिए लिया जाता है, किन्तु यह कोष इसे अपव्यय और ध्वंसात्मक रूप में बरबाद कर रहा है। अब नागरिक केवल उतने धन से संतुष्ट नहीं होते, जो उनके परिवार के ठीक से भरण-पोषण और आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए पर्याप्त हो, जो मानव जीवन की मौलिक आवश्यकताएँ हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति अपनी कभी न तुष्ट होने वाली कामनाओं की पूर्ति के लिए अपरिमित धन चाहता है। लोगों की अवैध कामनाओं के अनुपात में उनका एकत्र किया हुआ धन माया के दलालों द्वारा जैसे डाक्टरों, वकीलों, कर अधिकारीयों, विभिन्न संस्थाओं, संविधानों, तथाकथित धर्माचार्यों, अकाल, भूकम्प और ऐसी अनेक विपत्तियों के रुप में हड़प लिया जाता है। एक कंजूस जिसने अंग्रेजी मुखपत्रिका ''बेक टू गॉडहेड'' की एक प्रति खरीदने में आनाकानी की थी, उसे एक सप्ताह की औषधि के लिए २,००० डॉलर व्यय करने पड़े थे और फिर वह मर गया था। एक और व्यक्ति, जिसने भगवान् की सेवा में एक सेंट भी व्यय करने से इनकार दिया था, उसने अपने ही परिवार के सदस्यों के बीच की मुकद्मेबाजी में हजारों डॉलर नष्ट कर दिए। श्रीभगवान् की माया के आदेश से घटित ऐसे कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। निस्सन्देह यह प्रकृति का नियम है। यदि धन श्रीभगवान् की सेवा में नहीं लगाया जाता है, तो यह निश्चय ही कानूनी समस्याओं या बीमारियों के रूप में बर्बाद हुई शक्ति की तरह व्यय हो जाता है। मूर्ख लोगों के पास ऐसे तथ्य देखने की आँखें नहीं होतीं, इसलिए श्रीभगवान् के नियम उन्हें मूर्ख बनाते हैं।

प्रकृति के नियम हमें उतने धन से अधिक स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते, जितना हमारे उचित भरण-पोषण के लिए अपेक्षित है। प्रकृति ने अपने नियमों के अनुसार प्रत्येक जीवधारी को उसके भोजन और आवास का उचित भाग प्रदान करने का प्रचुर प्रबन्ध किया है, किन्तु मनुष्यों की कभी न तृप्त होने वाली लिप्सा ने समस्त प्राणियों के परम पिता श्रीभगवान् द्वारा स्थापित व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर दिया है। श्रीभगवान् की व्यवस्था से नमक का एक महासागर विद्यमान है, क्योंकि नमक प्राणी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार भगवान् ने पर्याप्त वायु और प्रकाश का भी प्रबंध किया है, जो प्राणियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के भंडार से जितना जी चाहे नमक एकत्र कर सकता है, किन्तु वैधानिक रूप से हम उससे अधिक नमक खा नहीं सकते, जितना हमें चाहिए। यदि हम अधिक नमक ले लेते हैं, तो हमारा भोजन बिगड़ जाता है और यदि कम लेते हैं, तो भोजन बेस्वाद हो जाता है। किन्तु यदि हम सिर्फ उतना ही नमक लें, जितना आवश्यक हो, तो हमारा भोजन स्वादिष्ट बनेगा और हम स्वस्थ भी रहेंगे। आज के युग में इस बात की बड़ी चिंता व्यक्त की जा रही है कि हमारे प्राकृतिक स्रोत दूषित होने के साथ साथ समाप्त भी होते जा रहे हैं। वास्तविकता यह है कि सब वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, किन्तु दुरुपयोग और लालच के कारण सब कुछ नष्ट किया जा रहा है। संसार के संरक्षणवादी और पर्यावरणवादी जो बात नहीं समझते, वह यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ मनुष्य जाति की अतृप्त कामनाओं से तब तक नष्ट होती रहेंगी, जब तक मनुष्य कृष्णभावनामृत की इस पद्धति को नहीं अपना लेता। कृष्णभावनामृत के बिना सृष्टि के किसी भी स्तर पर शांति प्राप्त करना असंभव है।

अतएव मनुष्य अपनी कभी तृप्त न होने वाली कामनाओं और वासनाओं के कारण दुखी हो रहा है। न केवल मनुष्य दुखी हो रहा है, अपितु उस ग्रह, जिस पर मनुष्य रहता है, वह पृथ्वीमाता भी दुखी हो रही है, जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में गोमाता के रूप में किया गया है। एक बार भारत में एक प्रसिद्ध स्वामी से पूछा गया कि मानव जाति के दुख के लिए क्या परमात्मा या विधाता उत्तरदायी है? स्वामी ने उत्तर दिया कि ये सब दुख भगवान् की लीला हैं। आगे प्रश्न किया गया कि किसी जीव को कर्मफल के नियम के निर्देशन में रखा ही क्यों जाता है। स्वामी अपने प्रश्नकर्ताओं को संतोषजनक उत्तर न दे सके। अद्वैतवादी और निराकारवादी, जो केवल जीव और परमेश्वर के एकत्व के सिद्धान्त को मानकर चलते हैं, ऐसे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। ऐसा अपूर्ण उत्तर किसी जीव के हृदय को कदाचित् ही संतुष्ट कर सकता है।

समस्त शास्त्रों में श्रीभगवान् को लीला पुरुषोत्तम कहा गया है, जो अपने स्वभाव से सदा दिव्य लीलाएँ करते रहते हैं। वेदान्त सूत्र में उन्हें *आनन्दमयोऽभ्यासात्* कहकर भी वर्णित किया गया है। अद्वैतवादी और निराकारवादी अपने अद्वैत और निराकार के अपूर्ण सिद्धान्त के समर्थन में बड़ी कठिनाई से इस सूत्र की विविध प्रकार से व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। किन्तु तथ्य यही है कि आनन्द का उपभोग अकेले नहीं किया जा सकता। यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि

उदाहरण के तौर पर वे नगर आकर्षक माने जाते हैं, जिनमें विविध वस्तुएँ उपलब्ध हों। प्राणी स्वाभाविक रूप से विविधता के प्रति आकर्षित होते हैं, जैसे आकर्षक सड़कें, सुंदर भवन, सिनेमा, उद्यान, वाहन, व्यापार, जीविका के साधन, भोज्य सामग्री इत्यादि। इतनी विविधता के बावजूद अंग्रेज कवि *काउपर* ने एक बार कहा था, "नगर को मनुष्य ने बनाया, किन्तु ग्रामीण अँचलों को स्वयं ईश्वर ने बनाया है।" ग्रामीण अंचल भी प्राकृतिक विविधता से भरे होते हैं, किन्तु ये अपरिष्कृत होते हैं, जबकि नगरों में यह विविधता एक आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से व्यक्त की जाती है। काउपर जैसे कवि गाँवों की विविधता से आकर्षित होते हैं और शहर में रहनेवाले शुष्क लोग मानवसर्जित रंगीन विविधता से आकर्षित होते हैं। किन्तु किसी भी दृष्टि से देखें, विविधता ही वह वस्तु है जो लोगों को गाँव और नगर की ओर आकृष्ट करती है। वेदान्त सूत्र के पूर्वोक्त पद्यांश की यही समुचित व्याख्या है।

बहुत से तथाकथित स्वामी, जो प्राय: नगरों की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, बहुधा समाज और स्त्रियों की मित्रता में आनन्द खोजते हैं। सामान्यतया वे वन के प्राकृतिक सौंदर्य से आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि वे ऐसे पुरुष की वेशभूषा धारण कर लें, जो वनवासी के लिए उपयुक्त है। ऐसे स्वामी भौतिक पदार्थों में अनेक प्रकार के आनन्द को खोजते हैं, क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के वैविध्यपूर्ण आनन्द का कुछ पता नहीं होता। एक ओर वे भौतिक पदार्थों की विविधता में आनन्द लेते हैं, तो दूसरी ओर वे उस परम तत्त्व की आध्यात्मिक विविधता को नकारते हैं। वे अद्वैत और निर्गुण-निराकार के सिद्धान्त से प्रतिबद्ध होने के कारण इस बात का खंडन करते हैं कि जो बात भौतिक पदार्थों पर लागू है, वह आत्मा पर भी लागू हो सकती है। उनके अनुसार आत्मा भौतिक पदार्थों की अस्वीकृति है। किन्तु वस्तुत: तथ्य यह है कि आत्मा भौतिक पदार्थों का निषेध नहीं है, अपितु भौतिक पदार्थ आत्मा का एक विकृत प्रतिबिंब है।

विविधता का सच्चा आनन्द भ्रामक सापेक्षिकता के बिना आत्मा में विद्यमान है। दूसरी ओर जड़ भौतिक पदार्थ, सक्रिय आत्मा के संपर्क से उसी आध्यात्मिक विविधता का मिथ्या प्रतिनिधित्व या विकृत प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं, जिसका तथाकथित संन्यासियों के अद्वैतवादी वर्ग द्वारा इतनी दृढ़ता से निषेध किया जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परम भगवान् *सच्चिदानंदविग्रह* अर्थात् स्वभाव से आनन्दमय हैं। अत: वे अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों, अंशों, विभिन्नांशों एवं स्वांशों के द्वारा स्वयं का विस्तार करते हैं। परम भगवान् सत्यस्वरूप और अद्वितीय हैं, किन्तु उनके स्वरूप में उनकी विविध शक्तियाँ, अंश एवं स्वांश भी विद्यमान हैं, जिनका एक ही साथ उन से अलग भी है और अभेद भी है। चूँकि भगवान् स्वभाव से आनन्दमय हैं, अत: वे स्वयं का विस्तार विविध प्रकार से करते हैं और इन विस्तारों की गतिविधियों को उनकी दिव्य लीला कहा जाता है। किन्तु ये लीलाएँ अज्ञानमय और जड़ नहीं हैं। वे पूर्ण संवेदनशीलता, स्वतंत्रता तथा क्रिया-प्रतिक्रिया की स्वाधीनता का प्रदर्शन करती हैं। परम सत्य की विविध शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की

जटिलताएँ एक बहुत बड़े विज्ञान का विषय हैं, जिसे दिव्य भगवद्विज्ञान कहते हैं। *भगवद्गीता* इसी विज्ञान में रुचि रखनेवाले जिज्ञासुओं के लिए क, ख, ग, अथवा प्रारम्भिक ग्रंथ है। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य को इस दिव्य विज्ञान में रुचि लेनी चाहिए। वास्तव में, ऋषियों के मतानुसार मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य ही इस विज्ञान को जानना है। वेदान्त सूत्र का प्रथम वाक्य है—*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा* अर्थात् "ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करने का यही उपयुक्त समय है।"

मानव जीवन स्वभाव से ही दुखमय है और इससे नीचेकी योनियों के जीवों का जीवन तो और भी कष्टमय है। भले बुरे की उचित समझ रखने वाला कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति समझ सकता है कि इस भौतिक संसार में जीवन दुखों से भरा हुआ है और कोई भी व्यक्ति इन दुखों की क्रियाओं प्रतिक्रियाओं से मुक्त नहीं है। यह जीवन के प्रति निराशात्मक दृष्टिकोण नहीं है अपितु एक वास्तविकता है, जिसके प्रति हमें आँखें नहीं मूंदनी चाहिए। जीवन के दुखों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है : अपने शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले दुख, अन्य प्राणियों से प्राप्त होने वाले दुख और प्राकृतिक विपत्तियों के कारण आए हुए दुख। एक बुद्धिमान मनुष्य को इन दुखों को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए और फलस्वरूप जीवन में सुखी बनना चाहिए। चाहे अनजाने ही सही, हम सभी इन दुखों से छुटकारा पाने और शांति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं और उच्चतर बौद्धिक वर्ग में इन दुखों से मुक्ति के लिए चतुरतापूर्ण उपायों और योजनाओं से प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु जो शक्ति बुद्धिमान से बुद्धिमान

व्यक्ति के भी सब उपायों और योजनाओं को मात दे देती है, वह है मायादेवी की शक्ति। इस भौतिक जगत में कर्म का सिद्धान्त या क्रिया-प्रतिक्रिया का फल इस सर्व शक्तिशालिनी भ्रामक शक्ति माया से नियंत्रित होता है। इस माया के कार्यकलाप निश्चित सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार परम भगवान् के निर्देशन में निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते हैं। प्रकृति प्रत्येक कार्य पूर्ण चेतन होकर करती है; उसमें कोई भी बात अंधाधुंध या आकस्मिक नहीं होती। यह भौतिक शक्ति दुर्गा भी कही जाती है, जिसका तात्पर्य है कि यह एक ऐसी शक्ति है, जिसका अतिक्रमण करना बहुत कठिन है। कोई भी व्यक्ति अपनी बड़ी से बड़ी बचकानी योजनाओं से दुर्गा के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता।

मानव जीवन के दुखों से छुटकारा पाना जहाँ एक ओर एक अत्यंत कठिन कार्य है, वहाँ दूसरी ओर वह एक अत्यंत सरल कार्य भी है। जब तक बद्धजीवात्माएँ, जो प्रकृति के नियमों से स्वयं बँधी हुई हैं, तीन तापों से मुक्त होने की योजनाएँ बनाती रहेंगी, तब तक कोई हल नहीं मिलेगा। इसके प्रभावी समाधान केवल वही हैं, जो *भगवद्गीता* में बताए गए हैं और हमें अपने ही हित में अपने व्यावहारिक जीवन में उन्हें अपनाना होगा। श्रीभगवान् की लीलाओं में भौतिक प्रकृति के उक्त तीन तापों का कोई स्थान नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीभगवान् सनातन रूप से आनन्दमय हैं और उनकी दिव्य लीलाएँ उनसे भिन्न नहीं हैं। चूंकि वे परम सत्य हैं, अत: उनके नाम, यश, रूप, गुण एवं लीलाएँ उनसे अभिन्न हैं। इस प्रकार उनकी लीलाएँ मानवीय दुखों के समान नहीं आँकी जा सकतीं, जैसा कि उस

तथाकथित स्वामी का तर्क है। वस्तुतः भगवान् की लीलाएँ मनुष्यों के वास्तविक संतापों और दुखों से परे हैं।

मानव जाति के दुखों का कारण उस विवेचक शक्ति या थोड़ी सी स्वाधीनता का दुरुपयोग है, जो व्यष्टिक जीवात्मा को दी गई है। कपटी स्वामी या मनोधर्मी विचारक लोग अद्वैतवाद के सिद्धान्त को समर्थन देने के कारण, मानव जाति के दुखों को भगवान् की लीलाएं कहकर टाल देते हैं, किन्तु वास्तव में ये दुख, भटकी हुई बद्धजीवात्माओं को मायादेवी के द्वारा जबरन दिया गया दंड है।

जीवों के रूप में हम परम भगवान् के अंश हैं। वास्तव में हम उनकी परा शक्ति हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने जीवन की मुक्तावस्था में श्रीभगवान् की दिव्य लीलाओं में सहभागी हो सकते हैं। किन्तु जब तक हम भगवान् की अपरा शक्ति के संपर्क में कर्म के नियमों के अधीन हैं, हमारे सारे दुख, हमें प्राप्त थोड़ी सी स्वाधीनता के घोर दुरुपयोग से उत्पन्न हमारी ही करनी का फल है। निर्गुण निराकारवादी दार्शनिक यह कहकर लोगों को केवल भ्रमित करते हैं कि उक्त तीन ताप भगवान् की लीलाओं के भाग हैं। ऐसे निराकारवादी एवं अद्वैतवादी दार्शनिकों ने अपने अनुयायियों को इसलिए भ्रमित कर रखा है कि उनकी यह भ्रांत धारणा है कि परम भगवान् और जीवात्माएं सब प्रकार से समान हैं। यह सत्य है कि जीवात्मा गुण में तो भगवान् के समान है, किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से भगवान् के समान नहीं है। यदि प्रत्येक जीवात्मा गुणधर्मों की मात्रा में भगवान् के समान होता, तो वह भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन कभी न होता। भौतिक

प्रकृति परम भगवान् की इच्छा के अधीन है; इसलिए भगवान् भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन नहीं हो सकते। यह तो श्रीभगवान् के लिए असंगत बात होगी कि वे अपनी ही निम्न शक्ति के नियमों के अधीन हों।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), अन्य कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। धागे में गुथी हुई मणियों की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित है।" (*भगवद्गीता* ७.७)

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।

"प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम से विमोहित यह सारा संसार, इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता है।" (*भगवद्गीता* ७.१३)

जिन जीवात्माओं को भौतिक जगत के दुखों के अधीन रखा जाता हैं, वह उनकी ही अनधिकार चेष्टाओं के फल है। यह *भगवद्गीता* (१६.१९) का निर्णय है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

"उन द्वेष करने वाले दुराचारी तथा क्रूरकर्मी नराधमों को मैं भवसागर में निरंतर विभिन्न आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।"

अंशों का कार्य संपूर्ण की सेवा करना है, किन्तु जब वे अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं, तब वे उसी प्रकार भौतिक जगत के नियमों से दुखों के अधीन हो जाते हैं, जिस प्रकार अपराधी लोग पुलिस की कार्यवाही के भागी बनते हैं। राज्य अपने नागरिकों को अपना अंग समझता है, किन्तु जब कोई नागरिक अपनी अपेक्षित स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तो राज्य उसे पुलिस के नियंत्रण में रख देता है। कारागार के बाहर किसी नागरिक का जीवन और कारागार के अंदर नागरिक का जीवन, दोनों एक से नहीं हैं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति के कारागार के अंदर जीवात्माओं के दुखों को भगवान् की लीलाओं के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता, जो *सच्चिदानंद* की परम स्वाधीन अवस्था में होते हैं।

कोई सरकार अपने नागरिकों से ऐसा आचरण नहीं चाहती, जिससे उन्हें जेल जाना पड़े और यातनाएं भोगनी पड़ें। कारागृहों का निर्माण निस्संदेह राज्य प्रशासन द्वारा कराया जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार अपने नागरिकों को जेल भेजने के लिए उत्सुक है। परोक्ष रूप से अवज्ञाकारी नागरिक ही प्रशासन को कारागृह-निर्माण करने के लिए बाध्य करते हैं। कारागृह प्रशासन की प्रसन्नता के लिए नहीं बनाए जाते, जिनके निर्माण और व्यवस्था में प्रशासन के बहुत धन का व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत सरकार कारागृहों को पूर्णतया समाप्त करने में प्रसन्न होगी, बशर्ते कि राज्य में कोई भी अवज्ञाकारी नागरिक न हो। इसी प्रकार इस भौतिक जगत का निर्माण श्रीभगवान् द्वारा किया गया है, किन्तु उनकी यह इच्छा नहीं है कि

जीवात्मा को इस जगत के प्रपंच में डाला जाये। जीवात्मा स्वयं ही वह निर्णय लेते हैं। इसलिए इस भौतिक जगत के निवासी उन मुक्तात्माओं से भिन्न हैं, जो सदा भगवान् की दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं।

अद्वैतवादी (निराकारवादी) दार्शनिकों को शाश्वत, आध्यात्मिक लोक के संपूर्ण स्वतंत्र जीवन का कुछ भी पता नहीं है। उनके मतानुसार आध्यात्मिक क्षेत्र केवल शून्य है। यह ऐसा ही है जैसा कि कारागृह के बंदियों का सोचना कि कारागृह के बाहर कोई जीवन नहीं है। कारागृह के बाहर का जीवन निश्चय ही कारागृह के अंदर की गतिविधियों से मुक्त है, किन्तु ऐसा नहीं है कि बाहर कुछ गतिविधियां ही नहीं हैं। आत्मा स्वरूप से ही नित्य क्रियाशील है, किन्तु निराकारवादी लोग आध्यात्मिक जगत में आत्मा की क्रियाशीलता को नकारते हैं। इस प्रकार वे कारागृह के जीवन के दुखों को श्रीभगवान् की लीलाएं समझने की भूल करते हैं। अल्प ज्ञान के कारण उनको ऐसा लगता है।

परमेश्वर व्यष्टि जीवात्मा के कर्मों और उनकी प्रतिक्रियाओं की सृष्टि कभी नहीं करते। *भगवद्गीता* में इस विषय को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

''देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा

कर्मफल को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो भौतिक प्रकृति के गुणों का ही कार्य है। श्रीभगवान् किसी के भी पाप-पुण्य को ग्रहण नहीं करते। देहधारी जीवों के यथार्थ ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है, इसी से वे मोहग्रस्त रहते हैं।'' (*भगवद्गीता* ५.१४-१५)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मानवता के दुखों की तुलना श्रीभगवान् की लीलाओं से नहीं की जानी चाहिए और न ही उन दुखों के लिए भगवान् उत्तरदायी हैं। श्रीभगवान् किसी जीव के पापों या पुण्यों के लिए कभी भी उत्तरदायी नहीं हैं। पाप कर्मों द्वारा हम अधिकाधिक दुखमय परिस्थितियों में पड़ते जाते हैं और पवित्र कर्मों द्वारा हम स्वयं को सुख के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इस प्रकार मनुष्य स्वयं ही अपने भौतिक दुख अथवा सुख का निर्माता है। भगवान् नहीं चाहते की जीवात्मा कर्म की प्रतिक्रियाओं में लिप्त हो, चाहे वे सुकर्म हों या दुष्कर्म। वे तो केवल यह चाहते हैं कि प्रत्येक जीव अपने घर, भगवान् के धाम वापस पहुँच जाए। जब तक हम श्रीभगवान् से अपने शुद्ध सनातन सम्बन्ध को जागृत नहीं करते, तब तक हम अपने कर्मों में निश्चिय ही भ्रमित होते रहते हैं। हमारे सभी कर्म चाहे उचित हों या अनुचित, अज्ञान के धरातल पर ही होते हैं। हमें शुद्ध ज्ञान के धरातल तक ऊपर उठना चाहिए। यह साक्षात्कार ही शुद्ध ज्ञान है कि हम श्रीभगवान् के नित्य सेवक हैं और उनकी दिव्य लीलाओं में सहभागी बनकर आनन्द भोगने के लिए निर्मित हैं। भगवान् उन लीलाओं का आनन्द स्वामी-रूप में और हम सेवक-रूप में प्राप्त करते हैं।

यह इन्द्रियातीत दिव्य ज्ञान केवल दिव्य भक्तिमय सेवा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''निरंतर भक्ति में परायण, प्रेमसहित मुझे भजने वाले उन भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें।'' (*भगवद्गीता* १०.१०)

भगवान् को हम ऐसी भक्तिमय सेवा से ही यथारूप जान सकते हैं, न कि केवल तर्क-वितर्क युक्त बड़ी ज्ञानराशि प्राप्त करके। जब हम पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् को यथार्थ रूप में जान जाते हैं, तभी हम उनकी लीलाओं में प्रवेश पा सकते हैं। सब प्रामाणिक शास्त्रों का यही निर्णय है।

३

शांतिमय समाज की ओर

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

"श्रीभगवान् ने कहा : हे कुन्तीपुत्र, यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और जो इस शरीर को जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते है।" (*भगवद्गीता* १३.२)

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन को "क्षेत्र" और "क्षेत्रज्ञ" विषय में ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। *क्षेत्र* खेत होता है जो यह शरीर है और *क्षेत्रज्ञ* उस क्षेत्र का ज्ञाता व्यष्टि जीवात्मा है। यदि क्षेत्र (खेत) में कुछ उपज करनी है, तो उसके लिए कोई किसान होना चाहिए और यदि इस शरीर को, जिस की तुलना क्षेत्र से की गई है, खेती करने में लगाना है, तो इसका कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए, जो इसका संस्कार अथवा विकास कर सके। अभी हमारे पास ये भौतिक शरीर हैं और हमारा यह कर्तव्य है कि हम इनका अनुशीलन उचित ढंग से करें। इस संस्कार या विकास को *अकर्म* कहते हैं। कोई व्यक्ति हमारे यहाँ कुदाल लेकर खेत को निराने आ सकता है अथवा यह व्यक्ति केवल कॉफी या चाय पीने

के लिए भी आ सकता है। हमें यह विशेष प्रकार का शरीर सुसंस्कृत और विकसित करने तथा अपनी इच्छानुसार इन्द्रियों के आवश्यक विषयों को प्राप्त करने के लिए दिया गया है। यह शरीर श्रीभगवान् का उपहार है। भगवान् बड़े दयालु हैं और यदि कोई व्यक्ति उनसे कुछ चाहता है, तो वे उसे दे देते हैं। वे कहते हैं "अच्छा ठीक है, यह ले लो।" भगवान् से हमारा सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसा एक पिता से पुत्र का। पुत्र कोई वस्तु प्राप्त करने के लिए अपने पिता से हठ कर सकता है और पिता उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं कि तुम जो वस्तु चाहते हो वह तुम्हारे लिए हितकर नहीं है। पिता उससे कहते हैं, "प्रिय पुत्र, उस वस्तु को मत छुओ, वह तुम्हारे लिए हितकर नहीं है।" किन्तु जब बालक उस वस्तु के लिए हठ पकड़ लेता है, तो पिता उसे वह लेने की अनुमति दे देते हैं। वत्सल पिता अपने पुत्र को वह सब देते हैं, जो वह चाहता है। इसी प्रकार परम पिता भगवान् अपने पुत्र-पुत्रियों को वह सब देते हैं, जो वे चाहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सभी योनियों के जीव भगवान् की संतान हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कुन्तीपुत्र, सभी योनियों का जन्म इस भौतिक प्रकृति से सम्भव होता है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ।" (*भगवद्गीता* १४.४)

इस भौतिक जगत में भौतिक प्रकृति माता हमें शरीर प्रदान करती है और परम पिता भगवान् उस जड़ शरीर में आत्मा का

गर्भाधान करते हैं। आजकल एक ऐसा मिथ्या सिद्धान्त चल रहा है कि केवल मानव में ही आत्मा होता है और दूसरे प्राणियों में नहीं होता, किन्तु हमें वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि पौधों तथा वृक्षों इत्यादि को सम्मिलित करके ८० लाख से भी अधिक योनियाँ हैं और उन सब में आत्मा होता है, अन्यथा वे न उत्पन्न हो सकतीं, न विकसित हो पातीं। इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि भौतिक संसार में उत्पन्न होने वाले सभी प्राणी, चाहे उनके जो भी रूप हों, उनकी संतान हैं और उनका भगवान् से वही सम्बन्ध है, जो एक पुत्र का पिता से होता है।

इस कृष्णभावनामृत का विशेष उद्देश्य आत्मा की स्थिति और श्रीभगवान् से उसका सम्बन्ध समझना है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

"हे भरतवंशी अर्जुन, सब देहों (क्षेत्रों) को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) भी मैं ही हूँ और इस शरीर को एवं इस के स्वामी को जानना ज्ञान कहलाता है—ऐसा मेरा मत है।" (*भगवद्गीता* १३.३)

यदि हम इस शरीर पर विचार करके यह अध्ययन करें कि हम वास्तव में यह शरीर हैं कि नहीं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हम *क्षेत्रज्ञ*, शरीर को जानने वाला आत्मा हैं, शरीर नहीं। यदि हम अपनी अंगुली पर ध्यान दें कि हम अंगुली हैं कि नहीं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हम अंगुली या शरीर का और कोई अंग नहीं हैं, वरन् अंगुली, भुजाएँ, पैर, सिर इत्यादि 'हमारी' भुजाएँ, 'हमारे' पैर इत्यादि हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हम ये शरीर नहीं हैं, वरन् ये शरीर हमारे हैं। इसलिए हम कहते हैं, "यह मेरा शरीर है"। इस आधुनिक सभ्यता में दुर्भाग्य से लोग कभी यह प्रश्न पूछने का अवकाश नहीं निकालते कि वे क्या हैं या कौन हैं। वे केवल किसी कार्यालय या कर्मशाला (फैक्ट्री) में दिन भर इसी धारणा से कठिन कार्य या घोर परिश्रम करते रहते हैं कि, "मैं यह शरीर हूँ।" और यदि हम लोगों से पूछें, "आप कौन है ?" तो वे उत्तर देते हैं, "मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं स्वीडिश हूँ, मैं अमेरिकन हूँ," इत्यादि। ये तो शरीर की भिन्न-भिन्न पहचानें या उपाधियाँ हैं। वास्तविक बात यह है कि हम ये शरीर नहीं हैं। यह शरीर केवल हमारा कर्म-क्षेत्र है। जिस प्रकार एक किसान खेत नहीं है, उसी प्रकार हम ये शरीर नहीं हैं।

शरीर अनेक प्रकार के हैं और उन शरीरों के अनुसार उनके क्रियाकलाप भी अनेक प्रकार के हैं। एक कुत्ता किसी विशेष प्रकार के कार्य से, एक बिल्ली किसी दूसरे प्रकार के कार्य से और एक मानव किसी और ही प्रकार के कार्य से आनंदित होता है। शरीर के अंतर के कारण कार्यों में भी अंतर होता है। जब हम सत्य के घरातल पर आते हैं, और समझते हैं कि हम ये शरीर हैं ही नहीं, तब हमारे कार्यकलाप भौतिक कार्यों से आध्यात्मिक कार्यों में परिणत हो जाते हैं। जब तक हम देहात्मबुद्धि से कार्य करते हैं, तब तक हमारे कार्य भौतिक होते हैं। किन्तु ज्यों ही हम समझने लगते हैं कि "मैं यह शरीर नहीं हूँ, *अहं ब्रह्मास्मि*—मैं ब्रह्म हूँ," तब हमारे कार्यकलाप उसी अनुभूति से प्रेरित होंगे।

अर्थात् वे दैहिक या भौतिक स्तर से प्रेरित नहीं होंगे। शरीर से अलग अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, किन्तु जब तक हम शरीर की पहचान से ही चिपके रहते हैं, तब तक सच्चा ज्ञान नहीं मिल सकता।

शास्त्रों में कहा गया है कि जब तक हम जीवन की देहात्मबुद्धि को अपनाए हुए हैं, तब तक हमारे सारे कर्म निष्फल रहेंगे। एक बालक का जन्म अज्ञानावस्था में होता है और यदि बड़ा होने पर भी वह देहात्म-बुद्धि में ही रहता है, तो वह अंधकार में रहता है। उसकी स्थिति एक शूद्र जैसी है। वैदिक साहित्य में हम पाते हैं कि इस युग में जन्म से सब लोग शूद्र ही होते हैं; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पहचान प्राप्त करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। यदि हम अपने माता पिता से प्राप्त हुए जन्म से ही संतुष्ट रह जाएँ, तो हम अपनी शूद्र की दशा में ही रहेंगे। हमें शुद्धीकरण की प्रक्रिया का पालन करके ब्राह्मणत्व के स्तर तक ऊपर उठना पड़ता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, अपवित्र जीवन के चार मूल लक्षण हैं—अवैध कामोपभोग, नशीले पदार्थों का सेवन, मांस-भक्षण और जुआ खेलना। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार विवाह की सीमा के बाहर काम-भोग नहीं करना चाहिए। अतएव मानव समाज में विवाह की प्रथा है, जो हमें कुत्ते-बिल्लियों से पृथक् करती है। हम चाहे हिंदू, मुस्लिम या ईसाई, कोई भी हों, हम विवाह प्रथा को स्वीकार करते हैं। इस प्रथा का उद्देश्य है, अवैध काम सम्बन्धों का निषेध। वैदिक पद्धति में नशीले पदार्थों के सेवन को भी हतोत्साहित किया गया है, न ही मांस-भक्षण का

भी समर्थन किया गया है, क्योंकि मानव प्राणियों को अहिंसक होना चाहिए। हमें प्रकृति ने पर्याप्त अन्न, फल, दूध और शाक-सब्जी दिए हैं, अतः बेचारे पशुओं को मारने की कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग तर्क देते हैं कि यदि हम मांस नहीं खाएँगे, तो हम अल्पपोषित रह जाएँगे, किन्तु हम देख सकते हैं कि इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शिष्यों ने मांस-भक्षण छोड़ दिया है तो भी वे बड़े स्वस्थ रहते हैं, जबकि जो लोग मांस खा रहे हैं, वे मांस खाने के बावजूद भी अनेक व्याधियों और अस्वस्थताओं से पीड़ित हैं। जुए का भी निषेध किया गया है, क्योंकि यह मन को केवल उद्विग्न ही करता है।

इस प्रकार यह एक शुद्धीकरण की प्रक्रिया है, जिससे मनुष्य ब्राह्मण बन सकता है। यह मार्ग प्रत्येक के लिए खुला है। ब्राह्मण वह है जो सत्यवादी, शुद्ध, सहनशील, सरल, ज्ञानवान है और भगवान् में श्रद्धा रखता है। वह अपने मन और इन्द्रियों पर भी संयम रख सकता है। आज की परिस्थिति में ब्राह्मणों की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि आजकल प्रायः हर कोई व्यक्ति शूद्र है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति शरीर को बनाये रखने के लिए आहार, निद्रा, स्वरक्षण और मैथुन में पूर्णतया संलग्न है, जो पशुओं और शूद्रों के लक्षण हैं।

मानव समाज में जब तक चार विभाग न हों और जो एक-दूसरे के साथ तालमेल के साथ काम न करें, समाज में तब तक शांति नहीं हो सकती। ये चार विभाग हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन विभागों की चर्चा श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में इस प्रकार की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों और कर्म के अनुसार मानव समाज के चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गए थे; इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तुम अकर्ता ही जानो।" (*भगवद्गीता* ४.१३)

मानव समाज में मनुष्यों के ये चार वर्ग स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं, क्योंकि इस भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु प्रकृति के तीन गुणों—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण—के अधीन कार्य कर रही है। जब तक हम इस भौतिक जगत में हैं, तब तक प्रत्येक व्यक्ति को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कार्य कर रहा है। किन्तु जब हम इस त्रिगुणात्मिका भौतिक प्रकृति के परे हो जाते हैं, तब वहाँ समता हो जाती है। उस समय ये सारे वर्ग और भेद नष्ट हो जाते हैं। अतः अब प्रश्न यह उठता है कि इस त्रिगुणमयी प्रकृति के पार कैसे पहुँचा जाए। इसका उत्तर है, कृष्णभावनाभावित बनना ही भौतिक प्रकृति से परे जाना है। जैसे ही हम कृष्णभावनामृत में स्थित होते हैं, हम भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हो जाते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से मेरी अनन्य भक्ति के द्वारा मेरी सेवा करता है और किसी स्थिति में उससे पतित नहीं होता, वह तत्काल प्रकृति

के गुणों को लांघ कर ब्रह्मभूत स्तर पर पहुँच जाता है।" (*भगवद्गीता* १४.२६)

इस प्रकार जो व्यक्ति कृष्णभक्ति के कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह तत्काल ही दिव्य स्थिति पर पहुँच जाता है। मूल रूप से हम भौतिक पदार्थ नहीं अपितु ब्रह्म हैं (*अहं ब्रह्मास्मि*)। शंकराचार्य का दर्शन मुख्यतया इस सिद्धान्त पर आधारित है कि हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम इस भौतिक प्रकृति से निर्मित पदार्थ हैं। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना है कि हम भौतिक प्रकृति के संपर्क में आ गए हैं। वास्तव में हमारा स्वरूप यह है कि हम आत्मा, ब्रह्म हैं और हमें उसी मूल स्वरूप को जागृत करना है। यह भौतिक जीवन एक व्याधि-ग्रस्त स्थिति है। जब हम ब्रह्म में स्थापित हो जाते हैं, तब हम फिर से हमारी स्वस्थ अवस्था में आ जाते हैं। जब हम शतप्रतिशत कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तब वह स्वस्थ "ब्राह्मी स्थिति" हमें तुरंत प्राप्त हो जाती है।

जब हम श्रीकृष्ण की सेवा करते हुए भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हो जाते हैं, तब हमारी स्थिति क्या होती है? क्या हम शून्य बन जाते हैं? कुछ दार्शनिकों का मत है कि इस भौतिक जीवन से मुक्ति पाने के बाद, इस भौतिक शरीर के निर्वाण के बाद हम शून्य हो जाते हैं। यह एक भयावह सिद्धान्त है। स्वभाव से एक जीव शून्य की ओर आकर्षित नहीं होता। हम कितने भी रुग्ण हों और कितने भी कारणों से कष्ट पा रहे हों, किन्तु यदि हमारा डॉक्टर आकर हमसे कहे, "लाइए मैं आपके प्राण लेकर आपकी सारी व्याधियों को समाप्त कर देता हूँ"। तो हम तुरंत कहेंगे, "नहीं नहीं, मुझे मारने के बजाय, मुझे रोग से कष्ट पाने

दीजिए।" हम मात्र अपने दुखों का अंत करने के लिए भी मारे जाना पसंद नहीं करते। इस प्रकार यह सिद्धान्त कि भौतिक जीवन के पश्चात् शून्य ही रह जाता है, तनिक भी आकर्षक नहीं है। और न यह तथ्य ही है। हम तो *सच्चिदानंद विग्रह* अर्थात् सनातन, आनन्दमय और ज्ञानमय हैं। हम उन परम भगवान् के अंश हैं। भगवान् *सच्चिदानंद विग्रह* हैं और हम लोग गुण की दृष्टि से उनसे अभिन्न हैं। समुद्र के जल की एक बूंद चाहे कितनी भी छोटी क्यों न हो, उतनी ही खारी होती है, जितना कि पूरा समुद्र। इसी प्रकार भले ही हम केवल सूक्ष्म अणु, आत्मा क्यों न हों, हम में भी वे सभी गुण विद्यमान हैं जो परम आत्मा में हैं। हमारे शून्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि एक जीवात्मा के रूप में हमारे आध्यात्मिक गुणधर्म अपनी अनंत विविधता में वही हैं, जो भगवान् के हैं। किन्तु यदि इस भौतिक जीवन में निराशा के कारण हम आत्महत्या कर लें, तो उससे हमारे दुखों का अंत नहीं होता। अपितु हम और दूसरे दुखों को उत्पन्न कर लेते हैं। यदि कोइ व्यक्ति आत्महत्या का प्रयत्न करता है, किन्तु उसमें सफल नहीं होता या किसी प्रकार बच जाता है, तो वह राज्य के विधान के अनुसार दंड का भागी होता है। उसी प्रकार प्रकृति के नियम आत्महत्या को एक अपराध का कृत्य मानते हैं। हमारे इस भौतिक जीवन का अंत केवल एक अनंत, सच्चे आनन्दमय जीवन को प्राप्त करने के उपरांत ही हो सकता है। हमें केवल हताशा के कारण इस जीवन के दुखों का अंत करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु हमें ऐसे कार्यों में संलग्न होना चाहिए जो हमें आध्यात्मिक जीवन की उच्चता प्रदान करें।

मानव समाज में चार वर्णों की रचना भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उन्नति की इस विधि को सरलता से प्राप्त करने के लिए की गई थी। जिस प्रकार एक विद्यार्थी निम्न श्रेणी से उच्च स्नातकोत्तर श्रेणी में पहुँचता है, उसी प्रकार चार वर्णों (*चातुर्वर्ण्यम्*) का कर्म-विभाजन हमें चेतना के निम्नतम स्तर से उठाकर श्रीकृष्ण चेतना के उच्चतम स्तर तक ले जाने के लिए किया गया है। यह प्रक्रिया सहयोग की एक प्रक्रिया है। मानव शरीर में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग सिर है, फिर भुजाएँ, उदर और पैर हैं। यद्यपि सिर सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है, तथापि पैरों या किसी अन्य अंग की उपेक्षा का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार मानव समाज के वर्ग-विभाजन में कोई एक वर्ग दूसरे वर्गों की उपेक्षा करके महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। इन वर्गों में ब्राह्मणों को बुद्धिजीवीवर्ग-शिक्षकवर्ग माना जाता है। क्षत्रिय लोग शासक और सैनिक वर्ग हैं। वैश्य लोग व्यापार-व्यवसायी और कृषक वर्ग हैं। शूद्रलोग सामान्य श्रमिक वर्ग हैं। प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज में इन सभी वर्गों की आवश्यकता होती है। यदि वे कृष्णभावनामृत की प्रगति में परस्पर सहयोग करते हैं, तो उनमें संघर्ष होता ही नहीं है।

वर्तमान सामाजिक स्थिति में भी हम देखते हैं कि हम इन्हीं चार वर्गों में रह रहे हैं, किन्तु हममें सहयोग नहीं है। हर कोई असंतुष्ट है। आजकल पूँजीपतिवर्ग और मजदूरवर्ग में बड़ा भारी संघर्ष है, क्योंकि उनमें कोई सहयोग नहीं है, केवल संघर्ष है। विभिन्न वर्गों में यह सारा संघर्ष कृष्णभावनामृत के अभाव के कारण है। वस्तुतः जब तक कृष्णभावनामृत प्राप्त नहीं होता, तब

तक सहयोग की थोड़ी भी संभावना नहीं है। मानव समाज के समस्त अंगों में तालमेल के लिए कृष्णभावनामृत नितांत अनिवार्य है। हम चाहे किसी भी वर्ग के क्यों न हों, यदि हम कृष्णभावनामृत से युक्त होकर सहयोग करें, तो विश्व में शांति स्थापित हो जाएगी।

इस प्रकार कृष्णभावनामृत समाज के सभी वर्गों की एक अनिवार्य आवश्यकता है। श्रीमद्भागवद्गीता का प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक निष्कर्ष कृष्णभावनामृत की ओर निर्देश करता है। श्रीकृष्ण, जो भगवद्गीता के वक्ता हैं, सदैव अपनी व्यक्तिगत भक्ति पर बल देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"हे अर्जुन, तुम सदा मेरा चिंतन करो, मेरे भक्त बनो मेरा पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। निःसंदेह इस प्रकार तुम मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो।" (*भगवद्गीता* १८.६५)

संपूर्ण *भगवद्गीता* में *माम्* शब्द पर बल दिया गया है। *माम्* का अर्थ है, 'मुझे', 'कृष्ण को'। किन्तु बहुत से धूर्त लोग इस *माम्* का अर्थ 'प्रत्येक व्यक्ति को' करते हैं। जब मैं कहता हूँ, "मेरे लिए एक गिलास पानी लाइए," तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि मैं आपसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक गिलास पानी लाने के लिए कह रहा हूँ? यहाँ व्यक्ति विशेष के बारे में कहा गया है, किन्तु ये लोग शब्दों की मायाजाल से 'मुझे' या 'मैं' का

तात्पर्य 'प्रत्येक व्यक्ति' करते हैं। परिणाम-स्वरूप जब श्रीकृष्ण 'मैं' कहते हैं, तो धूर्त लोग उस 'मैं' को अपने खुद के साथ जोड़ देते हैं। यह बड़ा भारी अनर्थ है। यद्यपि *भगवद्गीता* विश्व में बहुत लोकप्रिय है, किन्तु इन सांसारी विद्वानों की गलत व्याख्या के कारण इसका तात्पर्य ठीक से समझा नहीं गया है।

भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि इस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना भगवान् श्रीकृष्ण ने की थी, किन्तु वे इस व्यवस्था से परे हैं। जब श्रीकृष्ण एक अवतार के रूप में आते हैं, तब वे किसी सामाजिक व्यवस्था के सदस्य के रूप में नहीं आते। वे ब्राह्मण या किसी और वर्ण के रूप में नहीं आते हैं। जब श्रीकृष्ण अवतरित हुए, तब वे देवकी और वसुदेव के पुत्र के रूप में आए थे। वसुदेवजी एक राजपरिवार से थे, अतः वे क्षत्रिय थे। इस प्रकार, श्रीकृष्ण ने एक क्षत्रिय का कर्म किया, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीकृष्ण क्षत्रिय जाति के थे। अनेक योनियों में श्रीकृष्ण के अनेक अवतार हुए हैं। एक अवतार में वे एक मत्स्य (मच्छ) के रूप में प्रकट हुए—मत्स्य जाति के एक सदस्य के रूप में—किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीकृष्ण मत्स्य हैं। यदि एक मछली को देख कर हम समझ लें कि यह श्रीकृष्ण के परिवार की सदस्य है, तो यह हमारी भूल होगी। एक दूसरे दृष्टिकोण से निश्चय ही प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण है, किन्तु श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु से पृथक् हैं। यही श्रीकृष्ण का दिव्य स्वरूप है, और यदि हम इस बात को समझ लें, तो हम जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाएंगे। यद्यपि श्रीकृष्ण ने मानव समाज के चार विभाग स्थापित किए हैं, तथापि वे उनमें से किसी में भी नहीं हैं (*तस्य कर्तारमपि*

मां विद्ध्यकर्तारम् अव्ययम्)। ज्योंही हम यह समझ जाते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण एक क्षत्रिय परिवार में अवतरित हुए थे, किन्तु वे एक क्षत्रिय नहीं हैं, तब हम वास्तव में मुक्त हो जाते हैं। यदि हम सोचें कि श्रीकृष्ण एक विशेष ढंग से कार्य करते हैं—जैसे युद्ध क्षेत्र में उन्होंने अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश दिया—वे अपने कर्मों की प्रतिक्रियाओं (फलों) से बँधे हैं, तो हम भूल करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, *न मां कर्माणि लिम्पन्ति* अर्थात् "मुझे कर्म लिप्त नहीं करते।" निष्कर्ष यह है कि हमें यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए कि जब श्रीकृष्ण हममें से एक जैसे प्रकट होते हैं, तब वास्तव में वे "हममें से एक" नहीं होते। वे दिव्य हैं। इस तथ्य का ज्ञान हमें विनम्र जिज्ञासा से प्रमाणभूत स्रोतों, जैसे *भगवद्गीता* या ऐसे गुरु से प्राप्त करना चाहिए, जिसे कृष्ण-भक्ति की पूर्ण अनुभूति हो चुकी है।

आज के युग में मानव समाज का प्रत्येक वर्ग सोचता है कि उसका निजी हित केवल इस शरीर का भरण-पोषण करने में है। फलतः आज का समाज केवल, बिल्ली-कुत्तों और सुअरों का समाज होकर रह गया है। वैदिक साहित्य से हम जान सकते हैं कि हमें केवल इस शरीर का पालन करने के लिए दिन भर कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। हम बड़ा भारी परिश्रम कर रहे हैं, क्योंकि हम इन इन्द्रियों की तृप्ति करने हेतु इस भौतिक प्रकृति को वश में करने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो यह समझ जाता है कि श्रीकृष्ण प्रत्येक पदार्थ के मूल हैं, प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं, वह *ईश्वरः परमः कृष्णः* अर्थात् "श्रीकृष्ण परम-ईश्वर (सर्वोपरि नियंता) हैं" इस वाक्य का अर्थ समझ सकता है। इस

ब्रह्मांड में अनेक ईश्वर या नियंता हैं, किन्तु श्रीकृष्ण उन सबमें सर्वोपरि हैं। कृष्णभावनामृत हमें यह ज्ञान प्रदान करता है। इस ज्ञान के बिना हम अपने वास्तविक स्वार्थ (सच्चे हित) के सम्बन्ध में अनजान ही रहेंगे।

आधुनिक समाज को बुद्धिजीवियों या ब्राह्मणों की अतिशय आवश्यकता है, जो सच्चे आध्यात्मिक ज्ञान को सारे विश्व में प्रसारित कर सकें। यह एक ऐसे समाज की अनिवार्य आवश्यकता है, जो केवल प्रकृति का शोषण करने के लिए घोर परिश्रम कर रहा है। यदि लोग इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से अपने श्रेष्ठ ज्ञान और विवेक से समझने का प्रयत्न करें, और सहयोग करें, तो सारे विश्व में शांति स्थापित हो जाएगी। मूल रूप से यह प्रक्रिया बहुत सरल है। हमें केवल

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

इस मंत्र का संकीर्तन करते हुए पूर्वोक्त चार नियामक सिद्धान्तों का पालन करना है। उन नियमों के पालन के द्वारा हम पापपूर्ण जीवन के चार स्तंभों से बच सकेंगे और हरे कृष्ण मंत्र के संकीर्तन के द्वारा हम श्रीभगवान् के निरंतर संपर्क में रहेंगे। इस प्रकार मानव समाज के सभी वर्गों में शांति स्थापित हो जाएगी।

४

कृष्ण को यथारूप जानना

पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की स्तुति करने के लिए हमें किसी उच्च शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता नहीं है। हमारी सामाजिक अथवा बौद्धिक स्थिति कुछ भी हो, हम प्रार्थना कर सकते हैं। हमें बड़ा विद्वान् या पंडित होने की आवश्यकता नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम अपनी प्रार्थना को सुन्दर चुने हुए शब्दों में व्यक्त करें जो कवित्वपूर्ण अथवा अलंकारपूर्ण हों। इनमें से किसी की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि ये ऐसी हो तो बहुत उत्तम है। हमें केवल अपने भावों को व्यक्त करना होता है, किन्तु ऐसा कर सकने के लिए हमें अपनी स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। अपनी स्थिति का ज्ञान हो जाने पर हमारी अनुभूतियाँ सच्चे रूप में स्वतः अभिव्यक्त हो सकती हैं।

हमारी स्थिति क्या है? भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में इसकी शिक्षा दी है। उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में हमें सिखाया है कि प्रार्थना कैसे करनी चाहिए—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

''हे सर्वसमर्थ जगदीश! मुझे धन एकत्र करने की कोई कामना नहीं है, न ही मैं अनुयायिओं, सुन्दर स्त्रियों अथवा स-अलंकार

कविता का ही इच्छुक हूँ। मुझे तो केवल जन्म-जन्मांतरों में आपकी अहैतुकी भक्ति ही चाहिए।'' (शिक्षाष्टक – ४)

इस प्रार्थना में ''जगदीश'' शब्द का अर्थ है, ''जगत के स्वामी।'' *जगत्* का अर्थ है ब्रह्मांड और *ईश* का अर्थ है भगवान्। हम हिंदू, मुसलमान, ईसाई या कोई भी क्यों न हों, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि इस ब्रह्मांड का कोई परम नियंता है। कोई भी व्यक्ति जो भगवान् में विश्वास रखता है, इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता। हमारा अटल विश्वास यह होना चाहिए कि हमारे परम पिता अखिल जगत के स्वामी जगदीश हैं। केवल जगदीश ही नियंता हैं, शेष सब नियंत्रित हैं। तथापि अनीश्वरवादी लोग यह शब्द पसंद नहीं करते, क्योंकि वे यह मानना पसंद करते हैं कि वे खुद ही नियंता हैं, किन्तु वस्तुतः तथ्य यह नहीं है। इस भौतिक जगत में सभी जीव भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अधीन है, किन्तु भगवान् इन तीनों गुणों से ऊपर हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

''प्रकृति के तीनों गुणों—सत्त्व, रज और तम द्वारा विमोहित यह सारा जगत इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।'' (*भगवद्गीता* ७.१३)

ब्रह्म-संहिता भी हमें परम-ईश्वर जगदीश की जानकारी देती है। उक्त रचना में ब्रह्माजी कहते हैं—*ईश्वरः परमः कृष्णः* अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च नियंता हैं। *ईश्वर* शब्द का अर्थ है

'नियंता' और *परम:* शब्द का अर्थ है 'सर्वोच्च'। हम सभी किसी एक सीमा तक नियंता हैं। यदि हमारे पास नियंत्रित करने के लिए कुछ नहीं होता, तो कभी कभी हम कोई कुत्ता या बिल्ली रख लेतें हैं, जिससे हम कह सकते हैं, "प्यारे कुत्ते, यहाँ आओ।" इस प्रकार हम सोच सकते हैं, "मैं नियंता हूँ।" लेकिन कभी कभी स्थिति उलट हो जाती है और हम पातें हैं कि कुत्ता ही स्वामी का नियंत्रण कर रहा है। ऐसा इसलिए होता है कि वस्तुत: कोई भी नियंता नहीं है, सब नियंत्रित हैं। दुर्भाग्य से हम इस स्थिति को भूल जाते हैं और यही विस्मृति *माया* कहलाती है। इस ब्रह्मांड का कोई नियंता है, इस बात को मानने से हम इनकार कर देते हैं, क्योंकि यदि हम नियंता को स्वीकार करेंगे, तो हमें अपने पाप कर्मों का उसी प्रकार हिसाब देना होगा, जैसे किसी शासन व्यवस्था को मान लेने पर हमें अपने अवैध कार्यों का हिसाब देना पड़ता है। हमारी स्थिति यह है कि हम अपने पापपूर्ण कर्मों को जारी रखना चाहते हैं और इसलिए हम किसी नियंता के अस्तित्व को नहीं मानते। अनीश्वरवादिता का यह आधारभूत सिद्धान्त है। वर्तमान प्रचार कि "ईश्वर मृत है," इतना व्यापक इसलिए हो गया है कि लोग बिना रोक टोक धूर्त और खल बने रहना चाहते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के पीछे यही मूल कारण है, लेकिन ईश्वर के अस्तित्व से हम भले कितना भी इनकार करें, उनकी मृत्यु नहीं होगी। इस सम्बन्ध में एक बंगाली कहावत है— "*शकुनि शापे गोरु मरण*"। *शकुनि* शब्द का अर्थ है—गृध्र (गिद्ध)। गिद्धों को मृत पशुओं के, विशेषकर गाय के मृत शरीर को खाना पसंद है। कभी-कभी गिद्धों को कई दिन तक कोई मरा

हुआ पशु नहीं मिलता; इसलिए यह कहावत है कि गिद्ध गाय को मरने का शाप देता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मात्र गिद्ध के शाप से गाय मर ही जाएगी और गिद्ध का हित हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार ये अनीश्वरवादी गिद्ध ईश्वर को मरे हुए देखना चाहते हैं, जिससे वे यह सोचकर प्रसन्न हो लें, "अब ईश्वर तो मर चुका है; हम जो चाहें कर सकते हैं।"

हमें निश्चयपूर्वक यह जान लेना चाहिए कि कोई न कोई नियंता है; यही ज्ञान का प्रारंभ है। हम इस सत्य को अस्वीकार क्यों करें? कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में हम कोई सीमित शक्ति वाला नियंता पाते हैं; तो इस सृष्टि में एक असीम शक्ति वाले नियंता के अस्तित्व से हम कैसे इनकार कर सकते हैं? इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने *जगदीश* (जगत के नियंता) शब्द विशेष रूप से बिना किसी कारण प्रयुक्त नहीं किया है। उन्होंने यह *जगदीश* शब्द कल्पित नहीं कर लिया है, क्योंकि यह अनेक वैदिक मंत्रों और ग्रंथों में पहले से विद्यमान है। जैसे—

तव करकमलवरे नखमद्भुतशृङ्गं।
दलित हिरण्यकशिपु तनुभृङ्गम्।
केशव धृतनरहरिरूप! जय जगदीश हरे॥

"हे केशव, हे हरि, आपके करकमल अत्यन्त सुन्दर हैं, किन्तु आपने अपने लम्बे नाखूनों द्वारा असुर हिरण्यकशिपु का शरीर विदीर्ण कर दिया है। हे जगन्नियंता जगदीश, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।" (महाकवि जयदेव कृत गीतगोविंद)

हिरण्यकशिपु एक नास्तिक था, जिसने ईश्वर के अस्तित्व से

इनकार किया था, किन्तु भगवान् श्रीनृसिंहदेव (आधे पुरुष – आधे सिंह) के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने उसका वध कर दिया। इसलिए उक्त श्लोक में समस्त जीवों और ब्रह्मांड के सर्वोच्च नियंता के रूप में भगवान् की स्तुति की गई है। (जय जगदीश हरे!)

इसी प्रकार एक दूसरी प्रार्थना भी है : *जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे*—"हे जगत के स्वामी (भगवान् जगन्नाथजी), कृपया मुझे दर्शन दें।" इन सभी प्रार्थनाओं में और दूसरी अनेक प्रार्थनाओं में जगत के परम नियंता को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति परम नियंता बनने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु यह किसी एक व्यक्ति, संप्रदाय या राष्ट्र के प्रयत्न से हो पाना संभव नहीं है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च बनने का प्रयत्न कर रहा है, इसलिए विश्व में बड़ी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई है। किन्तु इस विश्व का निर्माण कुछ इस प्रकार हुआ है कि कोई एक व्यक्ति सर्वोच्च नहीं बन सकता। भले ही हम अपने को किसी भी स्थिति में रखें, हम देखेंगे कि कोई व्यक्ति या तो हमसे नीचा है या ऊँचा है। कोई एक व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि, "मैं सर्वोच्च हूँ। मुझसे ऊपर कोई नहीं है।" न ही कोई यह कह सकता है, "मैं सबसे नीचा हूँ; मुझसे नीचा कोई नहीं है।" जब हम सोचते हैं कि हम सबसे नीचे हैं, हम तुरंत पाते हैं कि कोई हमसे भी नीचा है। और जब हम सोचते हैं कि हम सबसे ऊँचे हैं, हमे तुरंत पता चलता है कि हम से भी ऊँचा कोई है। यही हमारी स्थिति है।

किन्तु श्रीभगवान् की स्थिति ऐसी नहीं है। *भगवद्गीता* में

श्रीकृष्ण ने अपनी सर्वश्रेष्ठता स्वयं इस प्रकार व्यक्त की है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), अन्य कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। सूत्र में गुथी हुई मणियों की भाँति यह सब कुछ मुझ पर आश्रित है।" (*भगवद्गीता* ७.७)

श्रीभगवान् *असमौर्ध्व* हैं जिसका अर्थ है, न कोई उनके समान है, न कोई उनसे ऊँचा है। यदि हमें कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिससे ऊँचा कोई न हो, तो हम उसे भगवान् के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। श्रीभगवान् की परिभाषा यही हो सकती है कि जिनके समान या जिनसे बढ़कर कोई न हो। यही वैदिक परिभाषा है। उपनिषदों में कहा गया है, *न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते*। अर्थात् "न कोई उनके समान, न कोई उनसे बड़ा दिखाई पड़ता है।"

श्रीभगवान् का एक अन्य लक्षण यह है कि उन्हें कुछ नहीं करना होता। भौतिक जगत में जब किसी व्यक्ति को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, तो उसे सदा बहुत से कार्य करने होते हैं। उदाहण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में उसका राष्ट्रपति सर्वोच्च व्यक्ति समझा जाता है, किन्तु ज्यों ही मध्य यूरोप या विश्व के किसी अन्य भाग में कोई उपद्रव होता है, तो उस स्थिति से निपटने के लिए उसे तुरन्त अपने मंत्री-परिषद की बैठक बुलानी पड़ती है। इसी प्रकार के उसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं। यदि वह कुछ नहीं करता, तो वह सर्वोच्च व्यक्ति नहीं रह जाता।

वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि भगवान् को कुछ नहीं करना होता. *न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।* विश्व में श्रीकृष्ण अनेक कार्य करते हुए दिख पड़ते हैं, किन्तु इसलिए नहीं कि उन्हें ऐसा करना अनिवार्य है। यह बात गीता में कही गई है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

"हे पार्थ, त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य निर्धारित नहीं किया गया है; न तो मुझे किसी पदार्थ का अभाव है और न किसी वस्तु को पाने की आवश्यकता ही है। फिर भी मैं कर्म में तत्पर रहता हूँ।" (*भगवद्गीता* ३.२२)

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक घटना है। एक यूरोपीय सज्जन जो कलकत्ता गए थे और उन्होंने अनेक मंदिरों के दर्शन किए। उन्होंने देखा कि कालीमंदिर में देवी काली की प्रतिमा बड़ी विकराल है, उनके हाथ में एक कृपाण है, वे राक्षसों के मुंड काट रही हैं और उन मुंडों की माला पहने हुए हैं। दूसरे मंदिरों में भी उन्होंने मूर्तियों को ऐसे ही कार्यों में संलग्न देखा, किन्तु जब वे सज्जन श्रीराधा-कृष्ण के मंदिर में पहुँचे तो बोल उठे, "मुझे लगता है, इस मंदिर में श्रीभगवान् हैं।" जब उनसे पूछा गया कि आपने यह निष्कर्ष कैसे निकाला, तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैंने प्रत्येक मंदिर में देखा कि श्रीमूर्ति कुछ न कुछ कर रही है। किन्तु यहाँ मैं देखता हूँ कि श्रीभगवान् केवल बंशी बजा रहे हैं और स्वयं में आनन्दमग्न हैं। स्पष्ट है कि उन्हें कुछ नहीं करना पड़ता।" यह बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्ष है। वास्तव में यह

वैदिक निष्कर्ष है।

आजकल यह एक फैशन चल पड़ा है कि लोग ध्यान के द्वारा भगवान् होने का दावा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ध्यान के द्वारा एक व्यक्ति अपने को भगवान् के रूप में परिवर्तित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् ध्यान करते हैं और उस ध्यान के द्वारा ही भगवान् बन जाते हैं। यह सब बकवास है। भगवान् भगवान् हैं, सदा भगवान् थे और सदा भगवान् ही रहेंगे। अपनी माँ की गोद में एक शिशु के रूप में भी कृष्ण भगवान् ही हैं। उन्हें किसी ध्यान, कठिन साधना या तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं पड़ी। जब राक्षसी पूतना बालक कृष्ण को विष देने के लिए आई, वह एक सुंदर युवती के रूप में थी। उसने माता यशोदा से कहा, "हे यशोदा मायी, आपका पुत्र बड़ा सुंदर है। क्या आप कृपया उसे मुझे दुलारने के लिए देंगी?" यशोदा एक सीधी सादी गाँव की स्त्री थी। उन्होंने कहा, "हाँ, क्यों नहीं, तुम मेरे शिशु को ले सकती हो।" पूतना ने अपने स्तनों पर विष लगा रखा था और वह विषाक्त स्तनपान करा कर कृष्ण को मार डालना चाहती थी। यह आसुरी वृत्ति है। राक्षस लोग सदा कृष्ण को मारना चाहते हैं, जिससे वे कह सकें, "ईश्वर मर गया। ईश्वर कहीं नहीं है। ईश्वर निराकार है।" श्रीकृष्ण इतने दयालु थे कि उन्होंने पूतना के स्तनपान के लिए स्वयं को उसे सौंप दिया। किन्तु जब उन्होंने उसके स्तनों का पान किया, तो उन्होंने केवल विष ही नहीं पिया अपितु उसके प्राण भी पी लिए। पूतना मृत होकर भूमि पर गिर पड़ी और तुरंत अपने वास्तविक राक्षसी रूप में आ गई। तो श्रीभगवान् ऐसे हैं। वे अपनी माँ की गोद में भी भगवान् हैं। उन्हें

ध्यान, तपस्या, साधना या विधिविधानों के पालन के द्वारा भगवान् नहीं बनना पड़ता। वे तत्त्वतः और शाश्वत रूप में श्रीभगवान् हैं और उन्हें कुछ नहीं करना होता। यदि कोई कहने लगे कि वह अमुक देवता की उपासना से या ध्यान से भगवान् बन सकता है, तो हमें तुरंत समझ जाना चाहिए कि वह भगवान् (त्वश्स्र) नहीं अपितु कुत्ता (स्त्रश्द्द) है। भगवान् को समझने के लिए हमें केवल वैदिक निष्कर्ष को ही स्वीकार करने की सावधानी रखनी चाहिए : *न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।* श्रीभगवान् को कुछ करना नहीं पड़ता। फिर भगवान् को भगवान् बनने के लिए क्यों कुछ करना पड़े? यदि हम सोना बनाएँ तो वह कृत्रिम सोना होगा, वास्तविक स्वर्ण नहीं। स्वर्ण कुदरती होता है, वैसे ही श्रीभगवान् भी स्वयंसिद्ध हैं। अपनी बाल लीलाओं में, अपनी माँ की गोद में भी वे भगवान् हैं। जब वे अपने सखाओं के साथ खेल रहे होते हैं, तब भी वे भगवान् हैं। जब वे नृत्य कर रहे होते हैं, तब भी वे भगवान् हैं। जब वे कुरुक्षेत्र में युद्ध कर रहे होते हैं, तब भी वे भगवान् हैं। जब वे अपनी रानियों से विवाह करते हैं, तब भी वे भगवान् हैं। जब वे बोल रहे होते हैं, तब भी वे भगवान् हैं। श्रीभगवान् को समझने में कोई कठिनाई नहीं है। हमसे जो अपेक्षा की जाती है, वह केवल यह है कि हम भगवान् श्रीकृष्ण को सुनें।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं सबका स्त्रोत हूँ; मुझ से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। मुझे इस प्रकार तत्त्व से समझ कर बुद्धिमान भक्तजन श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से निरंतर मेरा भजन करते हैं।" (*भगवद्गीता* १०.८)

इसका अर्थ यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण, शिवजी के आदि स्रोत, श्रीविष्णु और ब्रह्माजी के भी आदि कारण हैं। निस्सन्देह, वे अन्य सभी देवताओं और प्राणियों के मूल कारण हैं। वे आगे कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्ध जगत में सब जीव मेरे ही अंश हैं और वे सनातन हैं किन्तु बद्ध दशा में होने के कारण वे मन समेत छः इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहे हैं।" (*भगवद्गीता* १५.७)

ब्रह्म-संहिता में ब्रह्माजी ने बताया है कि यदि हम श्रीभगवान् को खोज रहे हैं तो वे यहाँ हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन।
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं।
गोविन्दमादिपुरूषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविंद का भजन करता हूँ, जो श्यामसुंदर, स्वयं कृष्ण हैं। जिनके गुण असंख्य और अचिन्त्य हैं और जिनको शुद्ध भक्त प्रेम के अंजन से युक्त भक्तिभावपूर्ण नेत्रों से सदा ही अपने हृदय में देखा करते हैं।" (ब्रह्म-संहिता ५.३८)

वैदिक साहित्य में सर्वत्र ऐसे ही वर्णन हैं, किन्तु धूर्त और असुर जन इतने हठी होते हैं कि यद्यपि बारह प्रमाणभूत आचार्यों (ब्रह्मा, नारद, शिव, भीष्म, सनकादि कुमार, कपिल, मनु आदि) और व्यास, देवल इत्यादि दूसरे अनेक भक्तों द्वारा श्रीकृष्ण के परम ईश्वर, भगवान् होने की पुष्टि की गई है, तो भी वे लोग श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और श्रीमद्भागवत भी कहता है, *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* (श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं)। श्रीमद्भागवत श्रीभगवान् के सभी अवतारों की सूची देता है और अंत में निष्कर्ष निकालकर कहता है कि इस सूची में जो 'कृष्ण' का नाम है, वह सर्वोच्च अवतारी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का निर्देश करता है और अन्य सभी नाम केवल उनके अंशों या अवतारों के नाम हैं। *एते चांशकला: पुंस:।* भगवान् के अन्य सब नाम या तो भगवान् के अंश हैं या अंशों के भी अंश (कलाएँ) हैं। जीवात्माओं के रूप में हम लोग अंश हैं, किन्तु हम अत्यंत क्षुद्र अंश हैं। शेष सब या तो अंश हैं या कलाएँ। किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं।

हमारी प्रार्थनाएँ केवल भगवान् की ओर उन्मुख होनी चाहिए, अन्य किसी की ओर नहीं। इसलिए हम ब्रह्माजी के साथ श्रीकृष्ण की स्तुति में स्वर मिलाते हैं—

चिन्तामणिप्रकरसद्मसुकल्पवृक्ष
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविंद का भजन करता हूँ, जो चिंतामणि-रत्नों से निर्मित एवं लाखों कल्पवृक्षों से आवृत अपने धामों में सबकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाली गौओं का पालन कर रहे हैं। वे सहस्रों-सहस्र गोपसुंदरियों अर्थात् लक्ष्मीगणों द्वारा अत्यंत आदर सहित सर्वदा सेवित होते हैं।'' (ब्रह्म-संहिता ५.२९)

यहाँ श्रीकृष्ण को आदिपुरुष कहा गया है। हम सब 'व्यक्ति' हैं। हमारे पिता एक व्यक्ति हैं और इसलिए हम भी एक व्यक्ति हैं। यदि हम अतीत से अपने पिता के पिता की खोज करें, तो हमें पता लगेगा कि वे भी एक व्यक्ति थे और उनके पिता भी एक व्यक्ति थे। इसी प्रकार पीछे जाते-जाते हम ब्रह्माजी तक पहुँच जाएँगे, जो इस विश्व में श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न किए गए प्रथम व्यक्ति थे। फिर हमें यह भी पता लगेगा कि ब्रह्मा के पिता विष्णु भी एक व्यक्ति हैं। सब व्यक्ति हैं और कृष्ण सर्वोपरि व्यक्ति हैं। निराकारवादियों की ईश्वर सम्बन्धी परिकल्पना *निरर्चा* कहलाती है। *नि:* का अर्थ है रहित, बिना, नहीं और *अर्चा* का अर्थ है रूप, आकार। इस प्रकार *निरर्चा* का अर्थ है रूप, आकार से रहित। निराकारवादियों की यह मान्यता ठीक नहीं है कि श्रीभगवान् का कोई रूप नहीं। *निरर्चा* शब्द का यह अर्थ नहीं है कि भगवान् का कोई रूप नहीं, अपितु यह अर्थ है कि भगवान् का रूप भौतिक नहीं है, जैसा कि हमारा है। भगवान् का रूप तो है परंतु वह भौतिक नहीं है, वह आध्यात्मिक है।

हमारे रूप का क्या मूल्य है ? यह रूप तो कुछ वर्षों के बाद बदल जाएगा, जैसे ही हम शरीर छोड़ेंगे। हमारे रूप तो ऐसे ही बदलते रहते हैं, जैसे हम अपने वस्त्र बदलते हैं। किन्तु श्रीभगवान् का रूप ऐसा नहीं है। इसलिए वे कभी-कभी *निरर्चा* कहलाते हैं। रूप तो है और उसका निरूपण भी ब्रह्म-संहिता में किया गया है। ब्रह्माजी ने उस रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् श्रीगोविंद की पूजा करता हूँ, जो वेणु वादन में सुनिपुण हैं, जिनके नेत्र कमल की कर्णिका के सदृश अत्यंत सुंदर एवं सुकुमार हैं और जिनके सिर पर मोरमुकुट अत्यंत सुशोभित है एवं जिनकी कांति नील जलधर के समान श्याम है तथा जो कोटि-कोटि कामदेवों से भी अधिक मनोहर हैं।"

"मैं उन आदि भगवान् श्रीगोविंद का भजन करता हूँ, जिनका

दिव्य श्रीविग्रह सच्चिदानंदमय है एवं सदुज्ज्वल नीलमणि के समान देदीप्यमान है। उनके प्रत्येक दिव्य अंग में सभी इन्द्रियों की पूर्ण कार्यशक्ति विद्यमान है तथा उनके द्वारा भगवान् प्राकृत एवं अप्राकृत अनंत ब्रह्माण्डों का सर्वदा निरीक्षण, पालन एवं प्राकट्य करते हैं।" (ब्रह्म-संहिता ५.३०, ३२)

श्रीकृष्ण का उपर्युक्त दिव्य रूप भौतिक रूपों से नितांत भिन्न है। निराकारवादी कहते हैं, "अच्छा, आप कहते हैं कि कृष्ण का कोई रूप है। यदि ऐसा है तो आप कैसे कह सकते हैं कि वे सर्वोच्च हैं ? निराकार ब्रह्म सर्वोच्च है और निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं होता।" किन्तु हमें *भगवद्गीता* से ज्ञात होता है कि भगवान् कृष्ण निराकार ब्रह्म के भी आदि स्रोत हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

"परम सुखस्वरूप, अमृत, अविनाशी और सनातन निर्विशेष ब्रह्म का मैं ही आधार हूँ।" (*भगवद्गीता* १४.२७)

श्रीकृष्ण निश्चय ही साकार हैं, किन्तु उनका रूप, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सच्चिदानंद विग्रह है। वे *सत्*-शाश्वत, *चित्*-ज्ञानमय और आनन्द स्वरूप हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य विग्रह (शरीर) की विशेषताओं को ब्रह्माजी ने संक्षेप में इस प्रकार निरूपित किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"श्रीकृष्ण जिन्हें गोविंद नाम से जाना जाता है, परम ईश्वर हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय एवं दिव्य है। वे ही सबके आदि स्रोत हैं। उनका कोई और स्रोत नहीं है। वे ही सब कारणों के आदि कारण हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.१)

गोविंद शब्द का अर्थ है, "वे जो इन्द्रियों को सुख देते हैं।" हम सुख की अनुभूति अपनी इन्द्रियों के द्वारा करते हैं, अत: श्रीकृष्ण, जो सुख के निधान हैं, गोविंद कहलाते हैं। यदि हम शुद्ध इन्द्रियों से श्रीकृष्ण की सेवा करें, तो हम उस सर्वोच्च निधि का आनन्द लेने लगेंगे।

हम श्रीभगवान् का वर्णन कैसे कर सकते हैं या उनकी महिमाओं को कैसे समझ सकते हैं? यह संभव नहीं है। भगवान् असीम, अनंत हैं। किन्तु अपनी सीमाओं पर ध्यान न देते हुए हम अपनी अनुभूतियों को व्यक्त कर सकते हैं और कह सकते हैं— "मेरे भगवान्, मेरे स्वामी," बस, प्रभु इसे स्वीकार कर लेंगे। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें इसी प्रकार भगवान् की प्रार्थना करने की शिक्षा दी है—

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थित धूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे नंदतनुज (कृष्ण), मैं तो आपका नित्य सेवक हूँ, किन्तु ऐसे होने के बावजूद किसी न किसी प्रकार से मैं जन्म-मृत्यु रूपी सागर में गिर पड़ा हूँ। कृपया इस मृत्यु सागर से मेरा उद्धार करके मुझे अपने चरणकमलों की धूली का एक कण बना लीजिए।" (शिक्षाष्टक-५)

हमारी प्रार्थना का यही आदर्श होना चाहिए। हमें केवल श्रीकृष्ण की भक्तिपूर्वक सेवा के लिए उनके चरणकमलों के एक कण के समान स्थान पाने की इच्छा रखनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी स्वार्थ से श्रीभगवान् की प्रार्थना करता है। किन्तु यद्यपि हम भगवान् से यह प्रार्थना करें, "हे प्रभो, मुझे कुछ धन दीजिए, मुझे कुछ सहायता दीजिए, मुझे अच्छा घर, अच्छी पत्नी या अच्छा भोजन दीजिए" तो यह भी ठीक है। तथापि यह (प्रार्थना) भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना के स्तर की नहीं है। हमारी एकमात्र प्रार्थना यह होनी चाहिए कि प्रभु हमें जन्म-जन्म में अपनी सेवा करने योग्य बनाएँ। हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए, "हे प्रिय स्वामिन्, आप इतने महान् हैं कि मैं केवल आपकी सेवा में संलग्न रहना चाहता हूँ। मैं आज तक इन धूर्तों की सेवा करता रहा, किन्तु मुझे कभी संतोष नहीं मिला। अब मैं आपके पास आया हूँ। कृपया मुझे अपनी सेवा में नियुक्त कीजिए।" यही प्रार्थना की चरम परिणति है। कुछ लोगों की शिकायत है कि जब वे भगवान् की प्रार्थना करते हैं, तब उन्हें भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं होता। हमें जानना चाहिए कि इसका कारण हमारी स्वयं की क्षमताहीनता है, भगवान् की नहीं। उपस्थिति के दो स्वरूप हैं—भौतिक उपस्थिति और स्पंदनमय (शाब्दिक) उपस्थिति। भौतिक उपस्थिति तो अस्थायी है जबकि शाब्दिक उपस्थिति का स्वरूप शाश्वत है। जब हम *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण के उपदेशों की भावतरंगों का आनन्द लेते हैं, या 'हरे कृष्ण' कीर्तन करते हैं, तो हमें जानना चाहिए कि उन तरंगों से श्रीकृष्ण तुरंत उपस्थित हो जाते हैं। वे परम पूर्ण

(निरपेक्ष) हैं, इसलिए उनके शब्द भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी उनकी साक्षात् उपस्थिति। जब हम श्रीकृष्ण अथवा अपने गुरु महाराज से वियोग का अनुभव करें, तो हमें केवल उनके आदेशों को याद करने का प्रयत्न करना चाहिए; बस फिर हमें उनके वियोग का अनुभव नहीं होगा। भगवान् श्रीकृष्ण तथा गुरु के साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध उनकी वाणी के माध्यम से होना चाहिए; उनकी खुद की उपस्थिति के रूप में नहीं। यही सच्चा सम्बन्ध है। हम प्रत्यक्ष दर्शन पर इतना बल देते हैं, किन्तु जब श्रीकृष्ण इस भूतल पर विराजमान थे, तब अनेक लोगों ने उन्हें प्रत्यक्ष देखा परंतु उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि वे भगवान् हैं। तो प्रत्यक्ष दर्शन का क्या लाभ? कृष्ण के दर्शन करने पर हम उन्हें नहीं समझ पाएँगे, किन्तु उनके उपदेशों को सावधानी से सुनने से हम ज्ञान के धरातल पर आ सकते हैं। हम ध्वनि तरंगों के माध्यम से कृष्ण का संग तत्काल प्राप्त कर सकते हैं; इसलिए हमें श्रीकृष्ण और गुरु की वाणी की तरंगों पर अधिक बल देना चाहिए। तब हमें सुख का अनुभव होगा और वियोग का अनुभव नहीं होगा।

श्रीमद्भागवत से हमें ज्ञात होता है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण का इस भूतल से प्रस्थान हुआ, तब अर्जुन अतिशय दुखी हो गए थे। किन्तु जब उन्होंने *भगवद्गीता* के उपदेशों को स्मरण करना आरंभ किया, तो वे शान्त हो गए। अर्जुन श्रीकृष्ण के निरंतर सहचर थे, अत: जब श्रीकृष्ण अपने धाम को जाने लगे तो अर्जुन शोक से अभिभूत हो उठे। किन्तु श्रीकृष्ण की शिक्षाओं के स्मरण मात्र से उन्हें वियोग की पीड़ा से मुक्ति मिल गई। इस प्रकार जब

भी हम वियोग का अनुभव करें, उस समय शिक्षाओं का स्मरण सर्वोत्तम है। *भगवद्गीता* के उपदेश अर्जुन को उसे और सभी मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए दिए गए थे। यह बात श्रीकृष्ण ने गीता के दसवें अध्याय के आरंभ में कही है। उनका कथन है—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच:।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

"हे महाबाहु अर्जुन, मेरे परम वचन को सुनो, जो मैं तुम्हें अपना प्रिय समझकर तुम्हारे कल्याण के लिए करूंगा और जिसे सुनकर तुम अत्यन्त आनन्द का अनुभव करोगे।" (*भगवद्गीता* १०.१)

भगवान् कृष्ण के शब्द सुनने से और सावधानीपूर्वक उन पर आचरण करके हम न केवल विश्व में शांति, अपितु परम शांति (*परां शान्तिम्*) स्थापित कर सकेंगे। एकमात्र जिस बात की आवश्यकता है, वह यों है कि हम श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाएँ और उनके गुणगान करते हुए इस कृष्णभावनामृत आंदोलन को विश्व के प्रत्येक नगर और ग्राम में पहुँचाएँ। यह श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है कि इस प्रकार की शरणागति से शांति और शाश्वत जीवन स्वत: आ जायेगा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

"हे भरतवंशी अर्जुन, सब प्रकार से उन्हीं भगवान् की अनन्य शरण में जाओ। ताकि तुम परम शांति और सनातन परम धाम को प्राप्त हो जाओ।" (*भगवद्गीता* १८.६२)

५

कृष्ण की शक्तियों का ज्ञान

कृष्ण के लिए भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में कोई अंतर नहीं है। उनके लिए दोनों ही समान हैं। कभी कभी विद्युत शक्ति शीतलीकरण के लिए और कभी कभी उष्णीकरण के लिए प्रयुक्त होती है, किन्तु विद्युत-शक्तिगृह (पावर हाऊस) से उत्पन्न होने वाली विद्युत शक्ति एक ही जैसी होती है। इसी प्रकार कृष्ण की शक्ति हमेशा आध्यात्मिक होती है, किन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करती है। किसी नगर में एक लोक कल्याण विभाग एवं एक पुलिस विभाग हो सकते हैं। प्रशासन की दृष्टि में दोनों एक से ही हैं, क्योंकि दोनों ही प्रशासन के सहायक अंग हैं। किन्तु व्यक्ति के लिए दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा करते हैं। भौतिक शक्ति विभिन्न प्रकार से कार्य कर सकती है, जो जीव को बहुत रुचिकर न भी हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक शक्ति श्रीकृष्ण को अच्छी नहीं लगती है। यह उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि आध्यात्मिक शक्ति। किन्तु भौतिक शक्ति बद्धजीवात्मा को दंडित करने में लगाई जाती है, जैसे पुलिस विभाग अपराधियों को दंडित करने में काम करता है। *ब्रह्म-संहिता* में इस बात की पुष्टि की गई है कि कृष्ण की शक्ति सदैव आध्यात्मिक होती है, किन्तु कर्म के विभिन्न क्षेत्रों में यह

विभिन्न प्रकार से कार्य करती है। कृष्ण के लिए भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में भेद नहीं है, किन्तु अपनी समझ में हम उनमें भेद करते हैं और कहते हैं कि कभी शक्ति भौतिक ढंग से कार्य कर रही है और कभी आध्यात्मिक ढंग से। हम सोचते हैं कि ऊर्जा उष्ण अथवा शीतल है, अच्छी या बुरी है, रुचिकर या अरुचिकर है, पर वस्तुतः ऊर्जा एक ही है।

कृष्ण निकृष्ट शक्ति का वितरण नहीं कर सकते, क्योंकि वे निकृष्ट नहीं हैं। वे सदैव सर्वश्रेष्ठ, दिव्य हैं और इसलिए उनकी शक्ति सदैव आध्यात्मिक होती है। सुभद्रा जी श्रीकृष्ण की बहन हैं और उनसे दुर्गा का अवतार हुआ है, जो भौतिक शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप हैं। सुभद्रा जी आध्यात्मिक जगत में हैं और वे शाश्वत रूप से श्रीकृष्ण से उनकी शक्ति के रूप में सम्बन्धित हैं। किन्तु जब दुर्गा इस भौतिक जगत में अपना कार्य करती हैं, तो ऐसा नहीं है कि उन्हें निकृष्ट या हीन माना जाए। *भगवद्गीता* और ब्रह्म-संहिता दोनों में कहा गया है कि दुर्गा या माया कृष्ण की अध्यक्षता में कार्य करती हैं। अतः वे हीन कैसे मानी जा सकती हैं? अपराधी लोग भले ही सोचें कि पुलिस विभाग प्रशासन का कोई निकृष्ट विभाग है, किन्तु विधि-विधान का पालन करने वाले नागरिक ऐसा नहीं मानते। वास्तविकता केवल इतनी है कि पुलिस विभाग एक विशेष ढंग से कार्य करता है। इसी प्रकार भौतिक शक्ति, जो श्रीकृष्ण के निर्देशन में कार्य करती है, उसे जीवात्मा को परेशानी में डालने के लिए कार्य करना पड़ता है।

हम भौतिक शक्ति के अंतर्गत रहने वाले जीवात्मा हैं और हम इस शक्ति में इसलिए हैं, क्योंकि हम भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व

जताना चाहते थे। श्रीकृष्ण यह कह कर हमें सुविधा देते हैं, "अच्छा ठीक है, तुम प्रयास करो, किन्तु तुम सफल नहीं हो सकते।" जब तक हम इस विषय में अंधकार में हैं कि प्रकृति के नियम श्रीकृष्ण के सर्वोच्च निर्देशन में किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं, तब तक हम अपने कार्यों में विफल होते रहेंगे। जब हम श्रीकृष्ण को तत्त्वतः पूर्ण रूप से समझ लेंगे, तब हम प्रकृति के नियमों को भी स्वयं ही समझ जाएँगे और यह भी समझ जाएंगे कि वे नियम किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं। वैष्णवों का प्रयोजन भौतिक प्रकृति के नियमों की पृष्ठभूमि से है। जब हम कृष्ण को पूर्ण रूप से समझ लेते हैं, तो हम यह भी जान जाते हैं कि वस्तुतः कोई भी शक्ति निकृष्ट या भौतिक नहीं है अपितु प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। हम यह समझ सकते हैं कि उच्चतर धरातल पर हम जो कुछ अनुभव कर रहे हैं, वह सब भगवान् की विभिन्न शक्तियों की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ हैं। जब हम कृष्ण को पूर्णतया समझ लेंगे, तब निकृष्ट और उत्कृष्ट शक्तियों के ये भेद लुप्त हो जाएँगे। श्रीकृष्ण की सेवा में जो कुछ लगा हुआ है, वह श्रेष्ठ शक्ति है। उच्च अर्थ में प्रत्येक पदार्थ श्रीकृष्ण की सेवा में संलग्न है और जो लोग उच्च धरातल पर स्थित हैं, वे यह बात समझ लेते हैं।

वैदिक साहित्य से प्रमाणित होता है कि भगवान् की अनेक शक्तियाँ हैं। तथापि भगवान् को व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं करना होता। यह कैसे? उन्हें धन-संपदा के लिए कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि समस्त संपदा उन्हीं की है; न ज्ञान के लिए, क्योंकि समस्त ज्ञान उन्हीं का है; न ही शक्ति के लिए क्योंकि

समस्त शक्ति उन्हीं की है; न ही सौंदर्य, यश या वैराग्य के लिए क्योंकि ये सब पूर्ण रूप से उन्हीं के हैं। न ही श्रीभगवान् स्वयं विश्व के कार्यकलापों को संचालित करते हैं, क्योंकि उनके अनेक अनुचर हैं, जो उन कार्यों का संचालन कर सकते हैं, जबकि वे अपने परम धाम में रहे आते हैं। इसकी पुष्टि श्रीईशोपनिषद् में की गई है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

"अपने धाम में स्थित होते हुए भी भगवान् मन से भी अधिक वेगवान हैं और दौड़ने में सबसे आगे निकल जाते हैं। शक्तिशाली देवता भी उन तक नहीं पहुँच सकते। एक स्थान पर स्थित होते हुए भी वे वायु और वर्षा के देवताओं पर नियंत्रण रखते हैं। वे श्रेष्ठता में सर्वोत्तम हैं।" (श्रीईशोपनिषद् - मंत्र ४)

इस प्रकार श्रीकृष्ण को कुछ करना नहीं होता। पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में वे गोपियों और अपनी संगिनी श्रीमती राधारानी के साथ केवल आनन्द लीला में संलग्न रहते हैं। श्रीकृष्ण वास्तव में कृष्ण-रूप में दानवों का संहार नहीं करते। जब श्रीकृष्ण दानवों का संहार करते हैं, तब वे *वासुदे*[illegible] नाम से जाने जाते हैं, आदि कृष्ण के नाम से नहीं। [illegible] स्वयं का विस्तार करते हैं, तब वे सर्वप्रथम ब[illegible] संकर्षण, फिर प्रद्युम्न, फिर अनिरुद्ध और फिर वासु[illegible]

अपना विस्तार करते हैं। वासुदेव के रूप में वे मथुरा और द्वारका में कार्य करते हैं, किन्तु अपने आदि कृष्ण-रूप में वे वृंदावन में ही रहते हैं। यह बात असमंजस में डाल देने वाली लगती है। यहाँ तक कि बंगाल के महान् उपन्यासकारों में से एक व्यक्ति, भ्रम में पड़ गया और उसने सोचा कि वृन्दावंन के श्रीकृष्ण, द्वारका के श्रीकृष्ण और मथुरा के श्रीकृष्ण तीन भिन्न व्यक्ति थे। किन्तु यदि हम श्रीकृष्ण के विस्तार के तत्त्व को जान लें, तो यह समझना कठिन नहीं है कि श्रीकृष्ण वास्तव में एक ही हैं। श्रीकृष्ण वही हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपने को कोटि कोटि रूपों में विस्तृत कर सकते हैं। यह सब उनके आनन्द के लिए होता है।

श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में अर्जुन को अपने विभिन्न रूपों को इस प्रकार समझाते हैं—

उच्चै:श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥

"हे अर्जुन ! घोड़ों में सागर के अमृत से उत्पन्न उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा और गजराजों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको ही जानो। मैं शस्त्रों में वज्र, गायों में पर्याप्त दूध देने वाली गाय कामधेनु, शास्त्रोक्त रीति से संतान को उत्पन्न करने वाला कामदेव और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ।" (*भगवद्गीता* १०.२७-२८)

भगवान् कृष्ण इसी अध्याय में आगे इस भौतिक सृष्टि में

अपनी अनेक महान् विभूतियों की गणना करते हैं और बताते हैं कि उनमें से प्रत्येक शक्ति किस प्रकार उनका प्रतिनिधित्व करती है। इन विभूतियों का सविस्तार वर्णन करते हुए अंत में वे निष्कर्ष देते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्॥

"किन्तु हे अर्जुन, इस सारे विशद ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं तो अपने एक अंश मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्मांडों में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।" (*भगवद्गीता* १०.४२)

इस प्रकार इस भौतिक जगत का अस्तित्व कृष्ण के एक पूर्ण अंश पर टिका है। यदि कृष्ण इस ब्रह्मांड में प्रविष्ट न हुए होते, तो इस ब्रह्मांड का अस्तित्व ही न होता। इसी प्रकार जब तक आत्मा, जो श्रीकृष्ण का एक लघु अंश है, इस शरीर में प्रविष्ट नहीं हो, यह शरीर अस्तित्व में नहीं रह सकता। जैसे ही यह आत्मा शरीर को छोड़ देता है, वैसे ही यह शरीर तुरंत व्यर्थ हो जाता है। जब कृष्ण पदार्थ में प्रवेश करते हैं, तब पदार्थ का कुछ मूल्य हो जाता है। यह तथ्य एक सूक्ष्म परमाणु और महान् ब्रह्मांड दोनों के लिए समान रूप से सत्य है।

चूंकि भगवान् श्रीकृष्ण की विभूतियाँ इतनी महान् हैं, हमें यह जानना चाहिए कि उनका आनन्दास्वादन भी हमारे आनन्दोपभोग से कहीं बड़ा है। हमें यह समझने का प्रयत्न करना है कि कृष्ण किस प्रकार के आनन्द का आस्वादन पसंद करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भगवान् महान् हैं और इस से हम यह

निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनका आनन्दास्वादन भी महान् है। इस विषय में स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने एक श्लोक लिखा है कि यद्यपि राधा-कृष्ण की प्रणयलीला एक साधारण भौतिक प्रेम-व्यवहार जैसी दिख सकती है, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। श्रीमती राधारानी कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। वेदान्तसूत्र में परम सत्य को आह्लादिनी शक्ति का सदा आनन्दास्वादन करते हुए बताया गया है। जब हम आनन्द का उपभोग करना चाहते हैं, तो हम इसे अकेले नहीं कर सकते। हम अपने मित्रों या परिवार की संगति में आनंदित होते हैं। मैं एक कमरे में अकेला बोल सकता हूँ, किन्तु यदि मैं उस कमरे में अन्य लोगों के सामने बोलूं, तो मेरा आनन्द बढ़ जाता है। आनन्द का अर्थ यह है कि अन्यों की उपस्थिति हो। इसलिए परम सत्य श्रीकृष्ण जो सदैव स्वतः अपने आनन्द में मग्न रहते हैं, अनेक रूपों में विस्तरित हुए हैं।

हम कृष्ण के विभिन्न अंश हैं और हमारी सृष्टि उन्हें आनंदित करने के लिए की गई है। मुख्य आह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधारानी हैं, अतः राधा-कृष्ण सदा साथ होते हैं। भौतिक जगत बहिरंगा शक्ति *माया* से संचालित होता है, जबकि आध्यात्मिक जगत अंतरंगा शक्ति श्रीमती राधारानी के द्वारा संचालित होता है। हम प्रायः श्रीमती राधारानी से प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। *कृष्ण* शब्द का अर्थ ही है, 'सबको आकर्षित करने वाले' किन्तु श्रीमती राधारानी इतनी महिमाशालिनी हैं कि वे श्रीकृष्ण को भी आकर्षित करती हैं। यदि कृष्ण हमेशा सब के लिए आकर्षक हैं और राधारानी कृष्ण के लिए आकर्षक हैं, तो हम श्रीमती राधारानी की स्थिति की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

बस हमें विनम्र भाव से उस स्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और ऐसा करते हुए उन्हें अपना प्रणाम यह कहते हुए करना चाहिए, ''हे राधारानी, आप श्रीकृष्ण को अति प्रिय हैं। आप राजा वृषभानु की पुत्री हैं और आप कृष्ण की प्रियतमा हैं। हम आपको सादर नमन करते हैं।'' श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण को अतिशय प्रिय हैं और यदि हम कृष्ण के पास श्रीमती राधारानी की कृपा के माध्यम से पहुँचने का प्रयास करें, तो हम उन्हें सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। यदि श्रीमती राधारानी किसी भक्त की संस्तुति करती हैं, तो कृष्ण तुरंत उसे स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वह भक्त कितना ही मूर्ख क्यों न हो। फलतः वृन्दावन धाम में हम देखते हैं कि भक्तगण कृष्ण-नाम की अपेक्षा राधा-नाम का संकीर्तन अधिक करते हैं। हम भारत में कहीं भी जाएँ, हम देखेंगे कि भक्तगण ''जय राधे'' पुकारते हैं। हमें श्रीमती राधारानी की उपासना में अधिक रुचि रखनी चाहिए, क्योंकि हम कितने भी पतित क्यों न हों, यदि किसी प्रकार हम श्रीमती राधारानी को प्रसन्न कर लें, तो हम श्रीकृष्ण को बहुत सरलता से समझ सकते हैं। यदि हम तर्क की प्रक्रिया से श्रीकृष्ण को समझने का प्रयास करेंगे, तो हमें कई जन्मों तक चिंतन करना पड़ेगा, किन्तु यदि हम भक्तिमय सेवा का आश्रय लें और केवल श्रीमती राधारानी को प्रसन्न करने का प्रयास करें, तो श्रीकृष्ण का साक्षात्कार सरलता से हो सकता है। श्रीमती राधारानी इतनी महान् भक्त हैं कि वे श्रीकृष्ण तक हमें पहुंचा सकतीं हैं।

स्वयं श्रीकृष्ण भी श्रीमती राधारानी के गुणों को नहीं समझ सकते। वे श्रीमती राधारानी को समझने में विफल हो जाते हैं,

क्योंकि वे अत्यन्त महान् हैं। श्रीमती राधारानी को समझने के लिए श्रीकृष्ण ने वास्तव में उनकी स्थिति को अंगीकार किया। श्रीकृष्ण ने सोचा, ''यद्यपि मैं सब दृष्टिकोण से परिपूर्ण हूँ तथापि मैं राधारानी को नहीं समझ पाता। ऐसा क्यों है? इस तथ्य ने श्रीकृष्ण को राधा-भाव स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। और इसी कारण से वे भगनान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण हैं, किन्तु वे श्रीमती राधारानी के भाव को स्वीकार किए हुए कृष्ण हैं। श्रीमती राधारानी सदैव कृष्ण-वियोग का अनुभव करती हैं और इसी प्रकार राधा-भाव में स्थित श्री चैतन्य महाप्रभु भी उसी वियोग का अनुभव करते थे। इतना ही नहीं, जो भक्त भगवान् श्री चैतन्य की शिक्षाओं का पालन करते हैं, उन्हें भी विरह भाव का अनुभव करके उसका आनन्दास्वादन करना चाहिए, मिलन-भाव का नहीं।

श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यगण, अत्यंत उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर स्थित, सर्वगुण संपन्न गोस्वामियों ने कभी नहीं कहा, ''मैंने कृष्ण के दर्शन किए हैं।'' अपितु वे प्रेमरुद्ध कंठ से निरंतर कहते रहे, ''कहाँ हैं श्रीमती राधारानी? कहाँ हैं ललिता, विशाखा और वृन्दावन की अन्य गोपियाँ?'' श्रीभगवान् के प्रेम की परिपक्वावस्था में जब ये गोस्वामीजन वृन्दावन में निवास करते थे, तब वे यह कहते हुए क्रंदन करते थे, ''हे राधारानी, आप कहाँ हैं? आपकी सखियाँ कहाँ हैं? हे नंदकुमार, आप कहाँ हैं? इस प्रकार वे कृष्ण की खोज करते थे। उन्होंने कभी यह नहीं कहा, ''मैंने गत रात्रि को श्रीकृष्ण को गोपिकाओं के साथ नृत्य

करते देखा।'' कोई परिपक्व भक्त इस प्रकार के दावे नहीं किया करता। ऐसा तो वही करता है, जो सभी बातों को बहुत हल्के ढंग से लेता है। कुछ लोग समझते हैं कि वे राधा-कृष्ण इतने सस्ते हैं कि प्रत्येक रात्रि को देखे जा सकते हैं। किन्तु यह उन षड् गोस्वामियों की शिक्षा नहीं है, जो रोते हुए सदा कृष्ण की खोज किया करते थे, ''हे राधारानी, आप कहाँ हैं, आप कहाँ हैं? हे कृष्ण, आप कहाँ हैं? क्या आप गिरि गोवर्धन के निकट हैं? क्या आप यमुना के तट पर हैं?'' इस प्रकार वृन्दावन के समस्त भूभाग में ये गोस्वामी जन क्रन्दन करते हुए, पागलों की भाँति, श्रीराधा-कृष्ण की खोज किया करते थे।

हमें गोस्वामियों का अनुगमन करते हुए इस प्रकार श्रीराधा-कृष्ण की खोज करनी चाहिए। वृन्दावन हमारे हृदय में है और हमें उनकी खोज वहीं करनी चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसी मार्ग की संस्तुति की है—विरह भाव में उपासना करने की विधि। कृष्ण-वियोग का अनुभव करते हुए भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु स्वयं समुद्र में कूद पड़ते थे। कभी कभी वे रात्रि के घने अँधेरे में अपना निवास छोड़कर चले जाते थे। कोई नहीं जान पाता था कि वे कहाँ चले गए, किन्तु प्रतिक्षण वे श्रीकृष्ण की खोज में रहते थे। इस प्रकार यह उचित नहीं है कि हम श्रीराधा-कृष्ण की प्रणयलीला से इस तरह आनन्द उठाएं, जैसे दर्शकगण एक तमाशे को देखकर आनन्द उठाते हैं। हमें श्रीराधा-कृष्ण के वियोग का अनुभव करना चाहिए। हम जितना ही अधिक विरह अनुभव का करते हैं, उतना ही हमें अध्यात्म क्षेत्र में अपने को आगे बढ़ते हुए समझना चाहिए। अपनी भौतिक इन्द्रियों से हम कृष्ण को नहीं

देख सकते, उनका नाम तक नहीं सुन सकते। हम उनकी अनुभूति का प्रारंभ तब कर सकते हैं, जब हम भक्ति मार्ग में आगे बढ़ें। वह भक्तिमय सेवा जिह्वा से आरंभ होती है, पावों, आँख, या कानों से नहीं। जिह्वा का उपयोग इस मंत्र के जप-कीर्तन और कृष्ण का प्रसाद ग्रहण करने के लिए होना चाहिए :

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

इस प्रकार जिह्वा के दो कार्य हैं और इस प्रकार से इसका उपयोग करके हम कृष्ण का साक्षात्कार कर सकते हैं। हम अपने भौतिक नेत्रों से कृष्ण को नहीं देख सकते; न हम अपने भौतिक कानों से उनके बारे में सुन सकते हैं; न ही अपने हाथों से उन्हें छू सकते हैं, किन्तु यदि हम अपनी जिह्वा को उनकी सेवा में लगा देंगे, तो वे स्वयं को यह कहते हुए प्रकट कर देंगे, ''मैं यहाँ हूँ।''

हरे कृष्ण का यह कीर्तन भौतिक प्रकृति की लपलपाती अग्नि को बुझा देता है। नीचे उद्धृत गुरुदेव की स्तुति का भी तात्पर्य यही है—

संसारदावानललीढलोक
त्राणाय कारुण्यघनाघनत्वम्।
प्राप्तस्य कल्याण गुणार्णवस्य
वन्दे गुरोः श्री चरणारविन्दम्॥

''श्रीगुरुदेव कृपासिन्धु से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार वन में लगी दावाग्नि को शान्त करने हेतु बादल उस पर जल की

वर्षा कर देता है, उसी प्रकार श्रीगुरुदेव भौतिक जगत की धधकती अग्नि को शान्त करके, भौतिक दुखों से पीड़ित जगत का उद्धार करते हैं। मैं शुभ गुणों के सागर, ऐसे श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में सादर नमस्कार करता हूँ।'' (श्रीगुर्वाष्टक - १)

इस भौतिक संसार की तुलना प्रायः दावानल (वन की अग्नि) से की जाती है, जो स्वतः भड़क जाती है। कोई नहीं चाहता कि वन में आग लगे, किन्तु प्रायः बिजली गिरने, रगड़ उत्पन्न होने, असावधानी या किसी अन्य कारण से तुरन्त आग लग ही जाती है। उसी प्रकार यह भौतिक संसार अनेक ज्वलंत समस्याओं की आग से घिरा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति यहाँ शांतिपूर्वक रहना चाहता है, किन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन जाती हैं कि किसी के लिए भी शांति से रहना संभव नहीं हो पाता। हम वस्तुस्थिति से सामंजस्य स्थापित करने के लिए कई प्रकार से घोर संघर्ष करते हैं, किन्तु प्रकृति के नियम इतने क्रूर और भयावह हैं कि हमारी आशाओं और योजनाओं के बावजूद भी इस भौतिक जीवन की समस्याओं की भीषण अग्नि विद्यमान ही रहती है।

उदाहरण के लिए, इस शताब्दी में हमने युद्ध की अग्नि को शांत रखने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह संभव नहीं हो सका है। प्रथम विश्वयुद्ध हुआ और तब द्वितीय महायुद्ध को रोकने के लिए एक राष्ट्र-महासभा (लीग ऑफ नेशन्स) बनाई गई, किन्तु उसके प्रयत्नों के बावजूद भी द्वितीय महायुद्ध होकर रहा। अब युद्धों को रोकने के लिए एक संयुक्त राष्ट्र संघ बना है, किन्तु वियतनाम, मिस्र, पाकिस्तान और अन्य देशों में युद्ध हो रहा है। कोई भी तीसरा विश्वयुद्ध नहीं चाहता, किन्तु वह निकट ही दिखाई देता है।

यह संभव नहीं है कि वन की भीषण आग को बुझाने के लिए अग्नि संयंत्र (फायर ब्रिगेड) या पानी की बाल्टियाँ लेकर कुछ मनुष्य भेजे जाएं। धू धू करके जलती हुई जंगल की आग को बुझाने के लिए प्रचुर जलराशि चाहिए। दूसरे शब्दों में, दावानल को शांत करने के लिए एक ऐसा प्रबंध होना चाहिए जो मानवीय प्रयत्नों से परे हो। जब वन की अग्नि के ऊपर कृपामय मेघ हो और बादल फट जाए और वह मूसलाधार वर्षा करे, तो वह धधकती अग्नि तुरंत शांत हो जाती है। जैसे बादल समुद्र से जल-संचय करता है, उसी प्रकार गुरु महाराज श्रीकृष्ण के कृपासागर से जल संचित करते हैं और भौतिक जीवन की प्रचंड अग्नि पर वर्षा कराते हैं। इस प्रकार जो कृष्ण-कृपा की वर्षा करते हैं, वे ही गुरुदेव कहलाते हैं।

वैदिक साहित्य में कहा गया है कि कृष्णभावनामृत के दिव्य विज्ञान को समझने के लिए हमें समस्याओं की इस भीषण आग को बुझाने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वैज्ञानिक लोग, दार्शनिक लोग और अन्य सुशिक्षित जन आग को बुझाने का घोर प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु परिणाम में और बड़े से बड़े बम बनते दिखाई देते हैं। कर्मी अर्थात् कर्म फल की आशा से काम करने वाले लोग इस आग को बुझाने या इस भौतिक जीवन की दयनीय दशा को सुधारने के लिए रात-दिन दिल-जान से अथक परिश्रम कर रहे हैं। ज्ञानी अथवा दार्शनिक लोग भी प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे निराश हो चुके हैं और इसलिए घोषणा करते हैं, "यह संसार मिथ्या है।" ऐसा सोचकर वे परमेश्वर के अस्तित्व में लीन होने का और इस प्रकार आग बुझाने का प्रयत्न करते हैं। यह उस

सियार की भाँति है, जो एक अंगूर की बेलि से कुछ अंगूर पाना चाहता है, किन्तु जब वह सफल नहीं होता तो कहता है, "ऊँह, ये अंगूर तो खट्टे हैं।" योगी और ध्यानी लोग उच्च यौगिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वे महान् से भी महत्तर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, लघु से भी लघुतर, गुरु से भी गुरुतर बनना चाहते हैं, किन्तु यह पूर्णरूपेण बालकों का खेल है। किसी भी भौतिक शरीर के साथ भौतिक जीवन की समस्याएँ अवश्य ही रहेंगी, चाहे वह शरीर महान् हो या तुच्छ, हलका हो या भारी। इस प्रकार कोई व्यक्ति चाहे एक स्तर से दूसरे स्तर तक, कर्मी से ज्ञानी या दार्शनिक अथवा योगी या ध्यानी के स्तर तक पहुँच जाए, किन्तु प्रत्येक स्थिति में उसे अंत में भक्ति के स्तर पर पहुँचना ही पड़ता है। यही यथार्थ विकास की प्रक्रिया है। *भगवद्गीता* में इस प्रकार से इसका संकेत किया गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद जिसे सचमुच ज्ञान होता है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" (*भगवद्गीता* ७.१९)

कृष्ण की शरणागति ही मूल बिंदु है; जीवन का वही लक्ष्य है और भक्तगण, जो कि संसार के बुद्धिमान लोग हैं, इस अवस्था को अविलंब ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे लोग बुद्धिमान हैं। यदि अनेकानेक जन्मों के पश्चात् भी मनुष्य को इसी शरण-बिंदु पर पहुँचना है, तो अविलंब ही क्यों न

पहुँच जाएँ?

भौतिक प्रकृति की प्रचंड अग्नि का नियंत्रण देवी दुर्गा करती हैं। उनका चित्रण प्राय: हाथों में आयुधों के साथ किया जाता है। उनके दस हाथ हैं और प्रत्येक हाथ एक विभिन्न आयुध लिए हुए है। इससे यह अभिप्राय है कि वे इस विश्व की दसों दिशाओं पर शासन कर रही हैं। वे असुरों को दंडित करने के लिए भिन्न-भिन्न आयुधों का प्रयोग करती हैं। एक प्रसिद्ध चित्र में दिखाया गया है कि एक असुर दुर्गा के सिंह से जूझ रहा है, देवी दुर्गा उस असुर के बाल खींच रही हैं और अपने त्रिशूल उसकी छाती पर धोंप रही हैं। यदि हम इस चित्र का अध्ययन करें, तो हम पाएँगे कि हम ही वह असुर हैं और इस भौतिक जीवन के त्रिविध ताप (भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक दुख) ही त्रिशूल हैं, जिनसे हम सदैव पीड़ित रहते हैं। कुछ दुख अन्य प्राणियों से प्राप्त होते हैं वे 'भौतिक' हैं; कुछ दुख प्राकृतिक प्रक्रोप (भूकंप, अकाल आदि) से प्राप्त होते हैं, वे 'दैविक' है और जो दुख अपने ही मन और शरीर से प्राप्त होते हैं, वे 'आध्यात्मिक' हैं। किसी न किसी प्रकार हम सदैव इन त्रितापों के प्रति संघर्ष करते रहते हैं। इस भौतिक सृष्टि में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो यह कह सकता हो कि वह इन त्रितापों से मुक्त है। इस भौतिक प्रकृति का त्रिशूल प्रत्येक व्यक्ति की छाती पर चुभा हुआ है और इस कारण इस भौतिक जगत में सच्चा आनन्द संभव नहीं है। हम माँ दुर्गा की पूजा करके या उन्हें कुछ रिश्वत देकर संतुष्ट करने का प्रयत्न भले ही करें, किन्तु दुर्गा को रिश्वत देना इतना सरल नहीं है।

अत: हमें जान लेना चाहिए कि हमारे जीवन का उद्देश्य होना

चाहिए, भगवान् को समझ लेना। हमें सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, या धार्मिक सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ करनी चाहिए, किंतु मूल उद्देश्य परम पुरुष तक पहुँचना ही होना चाहिए। वेदों में कहा गया है कि उच्च कोटि के विद्वान्, उन्नत लोग और सृष्टि के देवता केवल श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ही आश्रय लेते हैं। मानवी सभ्यता का उद्देश्य भी यही होना चाहिए। कृष्ण के चरणकमलों का आश्रय लिए बिना सभी धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक प्रयास विफल हो जाएँगे। जब तक हमारी आकांक्षाएँ भौतिक जगत में अटकी हैं, तब तक प्रगति करना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में एक बारात की कहानी है। इस बारात को नदी के मार्ग से होकर वधू के घर जाना था। यह निश्चय हुआ था कि वे लोग नाव के द्वारा रात को प्रस्थान करेंगे और सवेरा होते-होते गंतव्य स्थान तक पहुँच जाएँगे। अत: रात्रि को भोजन के पश्चात् बाराती लोग बहुत प्रसन्नता के साथ सुखपूर्वक नाव में बैठे और नाविकों को नाव चलाने की आज्ञा दी। चूँकि सभी बाराती बड़े आराम से बैठ गए थे और नदी की शीतल वायु बड़ी सुखद थी, वे रात को गहरी नींद में सो गए। सबेरे वे सब जल्दी जग गए, किन्तु उन्होंने बड़े आश्चर्य से देखा कि नाव अपने गंतव्य की ओर एक पग भी आगे नहीं बढ़ी थी, यद्यपि नाविक लोग बड़े बलपूर्वक रात भर नाव खेते रहे थे। अंत में पूछने पर पता चला कि नाव का लंगर ही नहीं उठाया गया था, इसलिए रात भर खेने पर भी नाव नहीं चली। इस मूर्खतापूर्ण त्रुटि के कारण विवाहोत्सव ही बेकार हो गया।

इसलिए हमारी वर्तमान सभ्यता एक त्रुटिपूर्ण सभ्यता है,

क्योंकि भूले-भटके नेता लोग, आसक्ति का लंगर उठाना भूल गए हैं। अपितु लंगर को और भी दृढ़ता से स्थापित किया जा रहा है। क्योंकि उन्होंने सामाजिक व्यवस्था को इन्द्रियतृप्ति के आधार पर निर्मित किया है। विविध योजनाओं पर आधारित इन्द्रियतृप्ति वाले इस सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे की चर्चा *भगवद्गीता* में इस प्रकार की गई है—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

"ये असुर कभी न तृप्त होने वाले काम, दर्प और मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर मोहवश क्षणभंगुर पदार्थों से आकर्षित होकर दूषित कर्म का व्रत धारण किए रहते हैं। उनका विश्वास है कि जीवन के अंतिम क्षण तक इन्द्रियों की तृप्ति करना ही मनुष्य सभ्यता का प्रधान प्रयोजन है। इसलिए उनकी चिंताओं का कभी अंत नहीं होता।" (*भगवद्गीता* १६.१०-११)

समाज के नेता पूर्वोक्त नाविकों की भाँति भ्रम में हैं। वे हमें थोड़ा सा अस्थायी लाभ उठाने के लिए दिग्भ्रमित करते हैं, किन्तु उनकी योजनाएँ कितने दिन चल सकती हैं? यदि वे हृदय-रोग से मरने या किसी हत्यारे के द्वारा मारे जाने के क्षण तक अपनी योजनाओं से चिपके भी रहें, तो उनके बाद कोई उन्हीं जैसा दूसरा व्यक्ति उनका स्थान ले लेता है। यहाँ तक कि वर्तमान समाज के तथाकथित दार्शनिक भी भौतिक नाम और यश के जाल में फंस

जाते हैं और इसलिए वे सामान्य जनता को उचित दिशा में अग्रसर नहीं करते। इस प्रकार जीवन का लंगर इन्द्रियतृप्ति के लिए अज्ञान के जल में गहरा गड़ा रहता है और हमारी तथाकथित सभ्यता का एक कुंठित जलाशय में सड़ती रहती है। चूँकि हम गतिमान नहीं रहते है, इस के कारण हम सदा समस्यापूर्ण जीवन की उसी बंदरगाह में पड़े रहते हैं। युद्ध, अकाल, भूकंप और अन्य विनाशकारी उपद्रवों के चलते सारी योजनाएँ बेकार कागज के टुकड़ों से अधिक कुछ नहीं रह जाती। ये सब उपद्रव माँ दुर्गा की ओर से चेतावनी हैं और इनके द्वारा वे भ्रमित योजना-निर्माताओं को अपनी शाश्वत श्रेष्ठता का प्रमाण देती रहती हैं। हमारी नौका के लंगर में आसक्ति के अनेक भार बँधे हुए हैं, जो हमें भौतिक जीवन में अटकाए हुए हैं। आध्यात्मिक तथ्यों को न जानने के कारण भौतिक शरीर के प्रति हमारी आसक्ति, शारीरिक सम्बन्धों के कारण सम्बन्धियों में हमारी आसक्ति, जन्मभूमि और भौतिक संपत्ति के प्रति हमारी आसक्ति, भौतिक विज्ञान के प्रति हमारी आसक्ति, सच्चा उद्देश्य जाने बिना धार्मिक विधि-विधानों के प्रति हमारी आसक्ति—ये सभी मनुष्य-शरीर की नाव का लंगर भव-सागर में डाले रहती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में एक सुदृढ़ मूल वाले बरगद के वृक्ष का उदाहरण देकर हमें इस आसक्ति से सदा सदा के लिए छुटकारा पाने का उपाय बताया है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

"इस वृक्ष का वास्तविक रूप इस संसार में अनुभव नहीं किया जा सकता। इसके आदि, अंत अथवा आधार को भी कोई नहीं जान सकता। अतएव इस संसारवृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्य रूपी शस्त्र के द्वारा काट कर, फिर उस परम पद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त करके संसार में फिर कभी नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं परम पुरुष श्रीभगवान् के शरणागत होना चाहिए, जिनसे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति फैली है और अनादि काल से फैलती आ रही है।" (*भगवद्गीता* १५.३-४)

अपनी सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का पूर्ण ज्ञान रखने वाले पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् हमारे हित के लिए उपदेश देते हैं कि हमें इस भौतिक जीवन से मुक्ति की इच्छा अवश्य करनी चाहिए। हमें प्रत्येक भौतिक पदार्थ से स्वयं को अनासक्त कर लेना चाहिए। इस घाटे के सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि हम अपने भौतिक जीवन को निरन्तर श्रीकृष्ण के संदेश, उनके नाम और भक्तों के साथ जोड़ते हुए शत प्रतिशत आध्यात्मिकता से ओतप्रोत कर दें। अतः प्रत्येक व्यक्ति जो

साधारण रूप से भौतिक कर्मों में संलग्न रहता है, इस कृष्णभावनामृत आंदोलन से उच्चतम लाभ उठा सकता है। अन्य सभी आध्यात्मिक प्रयास भी कहीं न कहीं भौतिकता के कल्मष से मिश्रित और प्रभावित होते हैं। केवल शुद्ध भक्तिमय सेवा ही समस्त दोषों से परे है। हमें कृत्रिम रूप से भौतिकता के सिद्धान्तों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है; हमें केवल अपने मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में स्थिर कर देना है।

६

कृष्णभावनामृत को अपनाना

भारत में समस्त शास्त्र और महान् आध्यात्मिक आचार्य जिनमें शंकराचार्य जैसे निराकारवादी भी सम्मिलित हैं, श्रीकृष्ण को परम भगवान् के रूप में स्वीकार करते हैं। *भगवद्गीता* पर अपने भाष्य के आरंभ में शंकराचार्य कहते हैं कि "श्री नारायण इस व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि से परे हैं।" उसी भाष्य में वे कहते हैं कि, "भगवान् नारायण ही कृष्ण हैं, जो देवकी और वसुदेव के पुत्र-रूप में प्रकट हुए हैं।" इस प्रकार कृष्ण के विषय में कोई मतभेद नहीं है। जो प्रामाणिक आचार्य हैं, चाहे वे साकारवादी हों या निराकारवादी, स्वीकार करते हैं कि श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं।

जब कृष्ण इस भूमंडल पर विद्यमान थे, तब उन्होंने अपने कार्यकलापों और ऐश्वर्य से यह सिद्ध कर दिया कि वे परम भगवान् हैं। यदि हम वास्तव में यह समझने के लिए उत्सुक हैं कि परम भगवान् कौन और क्या हैं, तो इस सम्बन्ध में सारी जानकारी वैदिक साहित्य में दी हुई है। हमारे पास जो कुछ भी है, यदि उसका उपयोग हम भगवान् को समझने के लिए करें, तो कृष्ण यह सिद्ध कर देंगे कि वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं। यदि हम केवल यही तथ्य स्वीकार कर लें, तो हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण हो जाएगी। यह एक प्रथा सी हो गई है कि यह जानने

पर शोध किया जाये कि ईश्वर क्या है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है। ईश्वर विद्यमान हैं और वे स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं न अन्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), अन्य कोई सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। सूत्र में गूँथी हुई मणियों की भाँति यह सब कुछ मुझ पर आश्रित है। (*भगवद्गीता* ७.७)

यह बात केवल *भगवद्गीता* में ही नहीं कही गई है, अपितु दूसरे शास्त्रों में भी कही गई है। प्रारंभ से ही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और भगवान् श्री चैतन्य जैसे महान् आचार्यों और अन्य दिग्गज प्रामाणिक पंडितों द्वारा भी यह बात स्वीकार की गई है। वर्तमान काल में भी जो लोग कृष्ण को परम भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं करते, वे भी उनके द्वारा अर्जुन को दिए गए ज्ञान (*भगवद्गीता*) को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे परोक्ष रूप से कृष्ण को स्वीकार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति *भगवद्गीता* को ज्ञान का एक महान् ग्रंथ मानता है, तो वह कृष्ण को भी मान रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सर्वोच्च परम सत्य श्रीकृष्ण ही हैं और उनसे हमारा शाश्वत सम्बन्ध है।

भगवान् से हमारा शाश्वत सम्बन्ध *सभाजन* का है—भगवान् महान् हैं और हम उनके अधीन हैं। वे अधिष्ठाता हैं और हम अधिशासित हैं। एक अधीनस्थ का कर्तव्य है कि वह स्वामी को प्रसन्न रखे। इसी प्रकार यदि हमें सुखी रहना है, तो हमें श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखना सीखना चाहिए। यही कृष्णभावनामृत की

प्रक्रिया है।

किन्तु यह कैसे समझा जाए कि श्रीभगवान् हमारी सेवा और श्रम से संतुष्ट हुए हैं? वस्तुत: यह संभव है कि हम अपनी सेवा और व्यावसायिक कर्तव्य को परिपूर्ण बना लें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने पद के अनुसार कुछ न कुछ कर्तव्य पालन करना होता है। वह भारतीय, अमरिकी, हिंदू, मुस्लिम या ईसाई, पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या कोई भी क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ कर्म करने की अपेक्षा की जाती है और वह कर्म उसका कर्तव्य कर्म है। कर्तव्य कर्म की परिपूर्णता की परीक्षा यह है कि यह जाँचा जाए कि क्या भगवान् इस कार्य से संतुष्ट हुए हैं या नहीं। भगवान् की तुष्टि की परीक्षा उनके प्रतिनिधि, गुरु द्वारा हो सकती है। इसलिए पूर्ण परुषोत्तम भगवान् के सच्चे प्रतिनिधि (गुरु महाराज) की खोज करनी और उनके मार्गदर्शन में कार्य करना महत्त्वपूर्ण है। यदि गुरुदेव संतुष्ट होते हैं, तो हमें समझ लेना चाहिए कि भगवान् भी संतुष्ट हुए हैं। इस बात को श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने समझाया है—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो
यस्याऽप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यम्
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

"श्रीगुरुदेव की कृपा से भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा का आशीर्वाद प्राप्त होता है। श्रीगुरुदेव की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता। अतएव मुझे सदैव श्रीगुरुदेव का स्मरण करना चाहिए। दिन में कम से कम तीन बार मुझे श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में सादर नमस्कार करना चाहिए।" (श्रीगुर्वाष्टक, श्लोक - ८)

आध्यात्मिक गुरु भगवान् के प्रतिनिधि हैं। वे प्रतिनिधि कैसे बनते हैं? यदि कोई व्यक्ति कहता है कि अमुक वस्तु चश्मा है और वह अपने शिष्यों को भी इस प्रकार शिक्षा देता है, तो वस्तु की पहचान में कोई त्रुटि नहीं रहती। गुरु वे हैं, जिन्होंने किसी विशिष्ट गुरु-शिष्य परम्परा के शब्दों को आत्मसात् कर लिया है। यहाँ जो उदाहरण दिया गया है, उसमें महत्त्वपूर्ण शब्द 'चश्मा' है। गुरुदेव को इसके आगे और कुछ नहीं कहना होता है। यही उनकी योग्यता है। कृष्ण कहते हैं, "मैं सर्वोच्च हूँ" और गुरु महाराज कहते हैं, "कृष्ण सर्वोच्च हैं"। ऐसा नहीं है कि कृष्ण के प्रतिनिधि होने या गुरु होने के लिए किसी व्यक्ति को किसी असाधारण योग्यता की आवश्यकता है। बस, उसे प्रामाणिक अधिकारी से केवल उनके संदेश को यथारूप, अपनी व्याख्या जोड़े बिना, प्रसारित करना है। ज्यों ही उस संदेश में कुछ व्यक्तिगत व्याख्या जुड़ जाती है, वह संदेश लुप्त हो जाता है और उसकी शिक्षाएँ अपराधग्रस्त हो जाती हैं। जो व्यक्ति शास्त्रों पर अपनी मनमानी व्याख्या करता है, उसका तुरंत परित्याग कर देना चाहिए।

एक बार भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा, "तुम में कम से कम इतनी बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि तुम यह पता लगा सको कि कौन गुरु है और कौन नहीं।" उदाहरण के लिए, यदि हमें

कुछ खरीदना है, तो हमें कम से कम यह ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वह वस्तु है क्या, अन्यथा हम ठगे जाएँगे। यदि हमें बाजार से एक आम खरीदना है, तो हमें कम से कम यह तो ज्ञात होना ही चाहिए कि आम किस प्रकार का खाद्य पदार्थ है और देखने में कैसा होता है। इसी प्रकार हमें प्रामाणिक गुरु की योग्यताओं का कुछ प्रारंभिक ज्ञान होना ही चाहिए। *भगवद्गीता* स्वयं गुरुजनों की परम्परा के विषय में कुछ जानकारी देती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश दिया था। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के पिता मनु को दी तथा मनु ने इक्ष्वाकु को दी। हे परंतप (अर्जुन), इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा प्राप्त किया गया और इसी विधि से राजर्षियों ने इसे जाना; परंतु काल-क्रम से वह परम्परा खंडित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्रायः हो गया। वही प्राचीन योग आज मैंने तुमसे कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त होने के साथ-साथ मेरे सखा हो, अतएव

तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।" (भगवद्गीता ४.१-३)

वह मूल गुरु-शिष्य परम्परा तो विच्छिन्न हो गई थी, किन्तु उसी संदेश को हम अब *भगवद्गीता* का अध्ययन करके प्राप्त कर सकते हैं। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण अर्जुन से वैसे ही चर्चा करते हैं, जैसे उन्होंने सुदूर अतीत में सूर्यदेव से की थी। यदि हम कृष्ण और अर्जुन के शब्दों को स्वीकार करते हैं, तो हमारे लिए *भगवद्गीता* को समझ पाना संभव हो सकता है, किन्तु यदि हम गीता की व्याख्या अपने खुद के ढंग से करना चाहेंगे, तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। *भगवद्गीता* को समझने का सर्वोत्तम उपाय है, किसी प्रामाणिक गुरु की शरण लेना। यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है।

अर्जुन कहते हैं, "हे कृष्ण, मैं वह सब स्वीकार करता हूँ, जो आपने मुझसे कहा है, क्योंकि आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।"

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

"अर्जुन ने कहा : हे कृष्ण, हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह अब नष्ट हो गया है और स्मृति फिर प्राप्त हो गई है। अतएव अब मैं संशय से मुक्त होकर दृढ़ता से स्थित हूँ; अब आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" (*भगवद्गीता* १८.७३)

अर्जुन की भाँति हमें भी श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर मानना चाहिए और वही करना चाहिए जो वे कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन), तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान करते हो और जो तप करते हो, इन सबको मुझे अर्पण करो।'' (*भगवद्गीता* ९.२७)

श्रीकृष्ण को इस भावना से स्वीकार करके हम पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यदि हम श्रीकृष्ण को स्वीकार नहीं करते हैं और *भगवद्गीता* की व्याख्या अपने मनमाने ढंग से करते हैं, तो सब कुछ बिगड़ जाएगा।

यदि हम निष्ठावान हैं, तो कृष्ण की कृपा से हमें निष्ठावान गुरु मिल जाएँगे। किन्तु यदि हम ठगे जाना चाहते हैं, तो कृष्ण हमारे पास किसी ठग को भेज देंगे और हम जीवन भर ठगे जाते रहेंगे। वास्तव में यही तो चल रहा है। जो लोग श्रीकृष्ण को यथार्थ रूप में तत्त्वत: नहीं जानना चाहते अपितु उन्हें अपनी अपूर्ण दृष्टि से समझ लेना चाहते हैं, उनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञात ही रहते हैं।

पूर्ण प्रक्रिया यह है कि कृष्ण और उनके उपदेशों को स्वीकार करके उनकी प्रेममयी भक्ति संपन्न की जाये। एकमात्र श्रीमती राधारानी ही हैं जो परिपूर्ण प्रेममयी भक्ति का मूर्तिमान स्वरूप हैं। *ब्रह्म-संहिता* में श्रीमती राधारानी को श्रीकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के विस्तार के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार वे कृष्ण से अभिन्न हैं। गोपियाँ जो श्रीराधा-कृष्ण की सेवा करती हैं, साधारण स्त्रियाँ या कन्याएँ नहीं हैं। वे श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति का विस्तार हैं। श्रीमती राधारानी एवं गोपियों को कभी भी साधारण स्त्रियाँ नहीं समझना चाहिए। नि:संदेह, उनकी स्थिति को समझने के लिए हमें गुरु महाराज के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यदि हम जीवात्माएँ वास्तव में श्रीमती राधारानी की संगति करना चाहें, तो यह संभव है, यद्यपि वे साधारण स्त्री नहीं हैं। स्वयं को उच्च भक्ति का अधिकारी बनाकर हम श्रीमती राधारानी के संगी हो सकते हैं।

भक्तिमय सेवा में निराशा का कोई स्थान नहीं है। हम कितनी ही छोटी से छोटी भगवत्सेवा करें, उसकी वृद्धि होगी। भक्तिमय सेवा कभी नष्ट नहीं होती। जहाँ तक भौतिक पदार्थों का सम्बन्ध है, इस संसार में हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह सब शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है। किन्तु चूँकि हम सनातन चिन्मय स्फुलिंग (चिनगारी) हैं, अत: हमारी आध्यात्मिक संपदा हमारे साथ जाती है और शनै: शनै: फलवती होती हैं। इस प्रकार जो लोग पहले इन्द्रियातीत अध्यात्म चेतना का विकास कर चुके हैं, वे इस आंदोलन के माध्यम से कृष्णभावनामृत के संपर्क में आते हैं। कृष्णभावनामृत में रुचि सुलभ या सर्व सामान्य नहीं है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि लाखों, करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यदि हम यह विज्ञापन करें कि केवल इस पुस्तक के अध्ययन और पंद्रह मिनट ध्यान करने से कोई भी व्यक्ति तुरन्त शक्ति प्राप्त कर सकता है, व्यापार में सफल हो सकता है, परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है, तो अनेकानेक लोग इस पुस्तक की ओर आकर्षित हो जाएँगे। लोग

कृष्णभक्ति की ओर आकर्षित नहीं होते, क्योंकि उन्हें माया द्वारा ठगे जाना अधिक पसंद है। वे सोचते हैं कि जीवन की परिपूर्णता बहुत सारा भोजन करने या बीस घंटे सोने या प्रति रात्रि अथवा प्रति दिन एक नया साथी प्राप्त करने में है। लोग इन्हीं बातों में रुचि रखते हैं, जीवन की परिपूर्णता में नहीं।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को कृष्णभावनामृत के साथ कम से कम एक प्रयोग तो करना ही चाहिए। उसे कहना चाहिए, ''अच्छा, मैं इस भोजन और निद्रा का सुख कई जन्मों से भोग रहा हूँ। ये वस्तुएँ तो मुझे अपने पशु और पक्षी के शरीरों में भी सुख भोगने के लिए प्राप्त थीं। अब इस मानव जीवन में मुझे पशु जीवन की चार आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, स्वरक्षा और मैथुन पर नियंत्रण लगाना चाहिए और मुझे कृष्णभावनामृत की ओर प्रगति में अपने समय का सदुपयोग करना चाहिए। इस प्रकार मेरा जीवन सफल होगा।''

ऐसा नहीं है कि हमने इस 'कृष्णभावनामृत' शब्द को गढ़ लिया है। कृष्णभावनामृत शब्द विश्व के इतिहास में प्राचीनतम है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां मनस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:॥

''हे अर्जुन, सदैव मेरा चिंतन करो। मेरे भक्त बनो। मेरा पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। परिणाम यह होगा कि नि:संदेह

तुम मेरे पास आओगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो। मन से नित्य निरंतर अनन्य भाव से मेरा चिंतन करो, अपनी देह को मेरी सेवा में लगाओ, मेरी शरण ग्रहण करो। इस प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय हुए तुम मुझको ही प्राप्त होगे।'' (*भगवद्गीता* १८.६५, ९.३४)

''*मन्मना भव मद्भक्तो*'' वाक्यांश का अर्थ है, ''सदा मेरे भाव में तन्मय रहो।'' बस यही कृष्णभावनामृत है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण अनेक बार कहते हैं कि हमें उनकी उपासना करनी चाहिए, उनकी वंदना करनी चाहिए और उनकी शरण में आना चाहिए। *भगवद्गीता* स्पष्ट रूप से कृष्णभावनामृत की नितान्त आवश्यकता पर बल देती है और *भगवद्गीता* को उपनिषदों का सार माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी गीता की तुलना में कोई ग्रंथ नहीं ठहरता। पुरातत्त्व के प्रमाणों के आधार पर की गई काल गणना के अनुसार सिद्ध हुआ है कि कृष्ण ने *भगवद्गीता* का उपदेश कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में पाँच हजार वर्ष पूर्व दिया था। अतएव यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐतिहासिक दृष्टि से भी पाँच हजार वर्ष प्राचीन है। विश्व के इतिहास में इसका दर्शन प्राचीनतम है। यदि हम इसकी खोज और भी अतीत में करना चाहें, तो हमें ज्ञात होगा कि श्रीकृष्ण ने इसका कथन पहले सूर्यदेव से किया था। श्रीकृष्ण शाश्वत हैं और कृष्णभावना भी शाश्वत है। कृष्णभावना को इसी पद्धति से समझना चाहिए। इसे केवल एक कोरा सिद्धान्त नहीं मानना चाहिए।

जब कृष्णभावना के किसी अन्य भावना से ढक जाती है, तब हम अपने दूषित और परतंत्र जीवन का अनुभव करते हैं। आकाश के स्वच्छ होने पर हम सूर्य का तेजोमय मंडल देख सकते हैं, किन्तु जब यह बादलों से ढक जाता है, तो हम उसे नहीं देख पाते। हम सूर्य के प्रकाश का अनुभव तो कर सकते हैं, किन्तु हम स्वयं सूर्यमंडल को नहीं देख पाते। जब आकाश स्वच्छ रहता है, तो सूर्यमंडल अपने सहज स्वरूप में होता है। इसी प्रकार, हमारी चेतना या भावना शाश्वत रूप में कृष्णभावना है, क्योंकि हम लोग शाश्वत रूप से श्रीकृष्ण के अंश हैं। गीता में पंद्रहवें अध्याय में इसका प्रतिपादन किया गया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्ध जगत में ये जीव मेरे ही सनातन अंश हैं किन्तु बद्ध दशा में होने के कारण ये मन सहित छहों इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहे हैं।" (*भगवद्गीता* १५.७)

किसी न किसी कारण से हम भौतिक प्रकृति के संपर्क में आ गए हैं और मन सहित छह इन्द्रियों के कारण अपने अस्तित्व के लिए घोर संघर्ष कर रहे हैं। यह डारविन का सिद्धान्त है— अस्तित्व के लिए संघर्ष, सर्वाधिक समर्थ जीव का प्रभुत्व। किन्तु वास्तविकता यह है कि हमारी मूलभूत, सहज स्थिति संघर्षात्मक नहीं हैं। संघर्ष पशु जीवन की स्थिति है। मनुष्य जीवन आनन्दमय होना चाहिए और उसका उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए। एक समय था, जब भारत के लोगों के जीवन का सिद्धान्त यही

था और 'ब्राह्मण' नामक मनुष्यों का एक वर्ग था, जिन्होंने स्वयं को पूर्णतया आध्यात्मिक संस्कृति के लिए ही समर्पित कर दिया था। यद्यपि ब्राह्मणोचित संस्कृति युक्त जीवन-पद्धति भारत के शास्त्रों द्वारा निरूपित है, तथापि यह केवल भारतीयों के लिए ही नहीं है, अपितु समस्त मानव जाति के लिए है। वेद समस्त मानव जाति के लिए लिखे गए थे, किन्तु हुआ यह कि जब वेद लिखे गए, तब 'संस्कृति' नाम से जिसका एकमात्र अस्तित्व था, वह आज की भारतीय संस्कृति ही थी। उस समय पूरा ग्रह ऋषभदेव के पुत्र सम्राट 'भरत' के नाम पर 'भारतवर्ष' कहलाता था। महाराज भरत समग्र भूमंडल का शासन चलाते थे, किन्तु शनैः शनैः यह भूमंडल विभाजित होता गया। अतः वैदिक संस्कृति के 'धर्म' को एक सांप्रदायिक अर्थ में केवल भारतीय या हिंदू धर्म नहीं समझ लेना चाहिए।

प्रायः 'धर्म' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद 'रिलीजन' कर दिया जाता है, किन्तु 'धर्म' को 'रिलीजन' का पर्याय समझ लेना 'धर्म' शब्द को गलत समझना है। सामान्य प्रयोग में 'रिलीजन' शब्द किसी विशिष्ट प्रकार की श्रद्धा का बोधक है। 'धर्म' शब्द ऐसा बोध नहीं कराता। 'धर्म' प्राणी के सहज स्वभाव और प्रवृत्ति का बोध कराता है। उदाहरण के लिए, जहाँ भी अग्नि होती है, वहाँ उष्णता और प्रकाश होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि उष्णता और प्रकाश अग्नि के 'धर्म' हैं। अग्नि अपना धर्म परिवर्तन नहीं कर सकती। इसी प्रकार जल का सहज आंतरिक गुण तरलता है और उसका यह गुण बदला नहीं जा सकता। यदि ऐसा हो जाता है, तो उसे जल नहीं समझा जा सकता। जीवात्मा

के धर्म को कभी बदला नहीं जा सकता; और उसका वह *धर्म* है—उसका सहज कर्तव्य, अर्थात् श्रीभगवान् की सेवा करना। श्रद्धा और 'रिलीजन' बदले जा सकते हैं। आज मैं हिंदू हो सकता हूँ, किन्तु कल मैं एक ईसाई या मुसलमान बन सकता हूँ। इस प्रकार मत में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु धर्म एक स्वाभाविक क्रम है, एक नैसर्गिक वृत्ति अथवा एक सहज सम्बन्ध है।

श्रीकृष्ण कहते हैं, "ज्योंही जीवों के धर्म के पालन में हानि होती है अथवा जब अस्वाभाविक कार्यकलाप की अभिवृद्धि होती है, तब मैं अवतरित होता हूँ।" उनके अवतार का एक मुख्य प्रयोजन धर्म के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना करना है। वही धर्म पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, जो हमें भगवान् की शरण में जाने के लिए सबसे अच्छे ढंग से प्रशिक्षित करती है। *भगवद्गीता* का यही आधारभूत सिद्धान्त है। जब तक हम धर्म का वास्तविक उद्देश्य जानते हैं, हम अपने धर्म का चयन कर सकते हैं और हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई या और कुछ भी हो सकते हैं। वस्तुतः श्रीमद्भागवत इस बात की संस्तुति नहीं करता है कि हम अपना वर्तमान धर्म छोड़ दें, किन्तु वह धर्म के वास्तविक उद्देश्य को अवश्य इंगित करता है। वह उद्देश्य है, भगवत्प्रेम और वह धर्म जो हमें सबसे अच्छे ढंग से भगवत्प्रेम की शिक्षा देता हो, वही सर्वश्रेष्ठ है।

इस युग में विशेष रूप से जनता की विवेक चेतना में सामान्य ह्रास हुआ है। कुछ ही लोग याद रखते हैं कि ईश्वर है, किन्तु अधिकांश लोग उन्हें भूलते जा रहे हैं। अतएव वे सुखी नहीं रह सकते। लोग सोच रहे हैं कि ईश्वर मर चुका है या यह कि ईश्वर

के प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है या ईश्वर है ही नहीं। इस प्रकार के विचार कभी सुख का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते। जब सभ्यता ईश्वरविहीन या अनीश्वरवादी हो जाती है, जैसी कि इस समय है, तो ईश्वर या उनके प्रतिनिधि लोगों को परम चेतना के साथ उनके सम्बन्ध का स्मरण कराने के लिए आते हैं।

जब श्रील सनातन गोस्वामी ने भगवान् श्री चैतन्य से पूछा, "मैं कौन हूँ? मैं सदैव दुखी अवस्था में क्यों रहता हूँ? सब जीवों की स्थिति क्या है?" श्री चैतन्य महाप्रभु ने तुरंत उत्तर दिया कि जीव का सच्चा स्वरूप श्रीभगवान् का दास होना है। हमें 'दास' शब्द को भौतिक सेवक के अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए। भगवान् का दास बनना एक बहुत बड़ा पद है। लोग सदा किसी सरकारी पद या किसी प्रसिद्ध व्यापारिक प्रतिष्ठान में किसी स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न सदा करते रहते हैं, क्योंकि इन स्थितियों में की गई सेवा द्वारा बड़े बड़े लाभ होते हैं। हम शासन की सेवाओं में तो अच्छा पद पाने के लिए अत्यंत उत्सुक रहते हैं, किन्तु हम भगवान् की सेवा में कोई पद प्राप्त करने की बात कभी सोचते भी नहीं। भगवान् सारी सत्ताओं के शासक हैं।

श्रीभगवान् की सेवा ही 'धर्म' है। इस 'धर्म' का भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, जलवायु की परिस्थितियों या विशिष्ट स्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक धार्मिक शास्त्र में ईश्वर के प्रति समर्पणभाव की शिक्षा दी जाती है। कोई शास्त्र नहीं कहता कि ईश्वर नहीं हैं या जीव के रूप में हम स्वतंत्र हैं। न ऐसा बाइबल कहती है, न कुरान, न वेद। यहाँ तक की बौद्ध शास्त्र भी ऐसा

नहीं कहते। बौद्ध-दर्शन के अनुसार सामान्यतया न कोई जीवात्मा है, न कोई परमात्मा है। किन्तु चूँकि वैदिक साहित्य में श्रीबुद्ध को भगवान् के अवतार के रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः भगवान् बुद्ध को स्वीकार करके मनुष्य वास्तव में परमेश्वर का ही अनुसरण करता है। श्रीमद्भागवत् में भगवान् के अवतारों की एक सूची दी गई है, जिसमें भगवान् बुद्ध को भी एक अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत की रचना व्यासदेव द्वारा पाँच हजार वर्ष पूर्व की गई थी और भगवान् बुद्ध २,६०० वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे, इस प्रकार श्रीमद्भागवत में वस्तुतः बुद्ध के अवतार की पूर्व घोषणा की गई थी। भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया था कि न ईश्वर है, न आत्मा है, यह शरीर पदार्थों का मिश्रण मात्र है और जब यह भौतिक मिश्रण विलीन हो जाता है, तब दुख और सुख की अनुभूतियाँ भी समाप्त हो जाएंगी। फिर शंकराचार्य आए जिन्होंने उपदेश दिया कि ब्रह्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् यह शरीर केवल एक भ्रम है। सभी धर्मों में मंदिरों के माध्यम से उपासना और प्रामाणिक आचार्यों की मान्यता है। हम श्रीकृष्ण, जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह), यहोवा, बुद्ध, शंकराचार्य या गुरु नानक किसी को मानें, प्रत्येक दशा में प्रामाणिक आचार्यों की सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक है।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण को परम अधिकारी माना गया है। कभी कभी कृष्ण स्वयं प्रादुर्भूत होते हैं, और कभी कभी वे अपने अवतार के रूप में आते हैं। कभी कभी वे शब्द ध्वनि के रूप में अवतरित होते हैं और कभी कभी एक भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। अवतारों की विभिन्न कोटियाँ हैं। इस युग में

भगवान् श्रीकृष्ण अपने पवित्र नाम के रूप में अवतरित हुए हैं। वह नामावतार है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस बात की संपुष्टि की है कि इस कलियुग में श्रीकृष्ण शब्द-ध्वनि के रूप में अवतरित हुए हैं। ध्वनि भी एक स्वरूप है, जिसे श्रीभगवान् धारण करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि कृष्ण और उनके नाम में कोई भेद नहीं है।

आज लोग श्रीभगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल गए हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के पवित्र नाम के रूप में उनका यह अवतार, यह 'हरे कृष्ण' संकीर्तन, समस्त संसार के लोगों को इस विस्मृति से मुक्त कर देगा। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की घोषणा है कि यदि हम स्वयं श्रीकृष्ण-नाम का कीर्तन करें या कीर्तन के साथ संबद्ध हो जाएँ तो हम जीवन की सर्वोच्च परिपूर्ण स्थिति तक पहुँच जाएँगे। श्रीमद्भागवत के अनुसार भिन्न-भिन्न युगों के लिए भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक साधन हैं। किन्तु प्रत्येक साधन का सिद्धान्त सभी युगों में लागू रहता है। ऐसा नहीं है कि हरे कृष्ण का कीर्तन इस कलियुग में ही प्रभावशाली है और सत्य-युग में नहीं था। ऐसा भी नहीं है कि लोग सत्य युग में भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नामों का संकीर्तन नहीं करते थे। सत्य युग में 'ध्यान' ही प्रमुख साधन था, और महान् मुनिगण साठ हजार वर्ष की अवधि से भी अधिक समय तक ध्यान करते थे। किन्तु इस युग में हमारी

अल्पायु के कारण ध्यान द्वारा वह परिपूर्णता संभव नहीं है। इस कारण इस युग में विशेष रूप से यह संस्तुति की गई है कि हम सब एक साथ बैठकर हरे *कृष्ण* का कीर्तन करें। यह अत्यंत सरल है और प्रत्येक व्यक्ति इसमें भाग ले सकता है। इसमें न तो किसी शिक्षा की आवश्यकता है और न कोई पूर्व योग्यता की अपेक्षा है। इस कलियुग में लोग अत्यंत मंदबुद्धि और भाग्यहीन भी हैं और साथ ही कु:संगति से दूषित भी हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस महामंत्र के संकीर्तन का प्रवर्तन किया—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

यह मंत्र भगवत्प्रेम के प्रचार-प्रसार का बड़ा भारी साधन है। ऐसा नहीं है कि इस संकीर्तन साधन की संस्तुति केवल कलियुग के लिए ही की गई है। वस्तुत: इसका अनुरोध सभी युगों के लिए किया गया है। सभी युगों में अनेक भक्त हुए हैं, जो भगवन्नाम-कीर्तन द्वारा पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सौंदर्य है। यह केवल किसी एक युग, किसी एक देश या किसी एक वर्ग के लोगों के लिए नहीं है। हरे कृष्ण का कीर्तन किसी भी युग में, किसी भी देश में, किसी भी सामाजिक स्थिति के व्यक्ति के द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि कृष्ण सभी युगों, सभी देशों और सभी सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च, पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

लेखक परिचय

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का आविर्भाव १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम बार भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान-भक्त, आचार्य एवं चौंसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन समर्पित करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में विधिवत् उनके